ॐ

ISSN :- 0976-4321

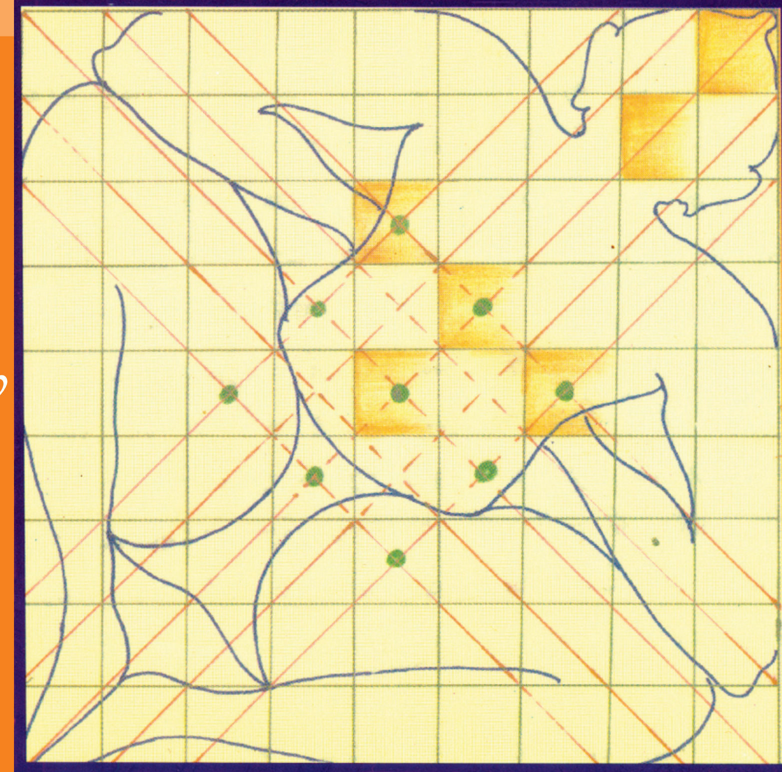
वास्तुशास्त्र अध्ययन माला – त्रयोदश पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

वायव्य   उत्तर   ईशान

पश्चिम



पूर्व

नैर्ऋत्य   दक्षिण   आग्नेय



श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)

नवदेहली–110016

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला-त्रयोदश पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका
(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के केयर लिस्ट में सम्मिलित)

प्रधान सम्पादक
प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति

सम्पादक
डॉ. अशोक थपलियाल
सहाचार्य एवं अध्यक्ष

वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
नव देहली-110016

प्रकाशक -
वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नव देहली-110016
ISSN :- 0976-4321

संस्करण - 2020
मुद्रण वर्ष - 2022

मूल्य 200/-

मुद्रकः
गणेश प्रिंटिग प्रेस
दिल्ली-110016
फोन : 9811663391/93

पुरो वाक्

सर्वविदित है कि भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। मनु का स्पष्ट उद्घोष है कि – **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।**[1] अर्थात् धर्म का मूल वेद है । अत: हमारे साहित्य में धार्मिक चर्चा का उपलब्ध होना आश्चर्य की बात नही है। भारतीय साहित्य में समागत विचार किसी न किसी रूप में वेदों से नि:सृत हैं। वेदों की ऋचाओं में देवतादि की स्तुति के साथ ही तत्कालीन सामाजिक परिवेश भी परिनिष्ठित है, जिससे उस समय की उन्नत कला एवं संस्कृति का दिग्दर्शन हो जाता है। कला का ही एक स्वरूप वास्तुशास्त्र भी है, जिसके शिल्प, आलेखन, स्थापत्यकला, मूर्तिकला आदि प्रभेद हैं। इसीलिए अर्थशास्त्र के उपवेद के रूप में स्थापत्य वेद समाद्रित है। यथा –

आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्ववेदमात्मन:।
स्थापत्यं चासृजद्वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखै:।।[2]

मानव अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से करता है, जो आत्मानुभूति या सत्यानुभूति भी है। अत: कला मात्र भावप्रदर्शन तक सीमित नहीं रहती, अपितु आध्यात्मिक सन्देश का आदान प्रदान भी करती है। यह अभिव्यक्ति की मूल प्रवृत्ति पर विराजमान होकर व्यापक एवं अमर हो जाती है। जीवन के अनेक अनुभवों का मूल्य कला के द्वारा ही समझ में आता है। संस्कृति का अभिज्ञान कला के माध्यम से ही होता है। भारतीय कला नित्य धर्म की अनुगामिनी रही है, अत: आध्यात्मिकता इसका सहज गुण है। डॉ वासुदेव उपाध्याय के शब्दों में – भारत में कला विषय आत्मपरक है। भारतीय कला को समझने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। कलाकार सत्य का उपासक होता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक कला साधना द्वारा भारतीय कलाकार और उनकी लोककल्याण कला अमर है।[3]

वैदिक काल से ही भारत की शिल्प कला ने विश्व को चमत्कृत किया है। वेदमन्त्रों में वर्णित यज्ञवेदियाँ, गृह-दुर्ग-ग्रामादिवास्तु आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं। कुछ विद्वान् भ्रमवश लगभग 2000 वर्षपूर्व महायान मत के आरम्भ के साथ ही प्रतिमापूजन का आरम्भ मानते हैं, परन्तु उससे पूर्व ही वैदिक वाङ्मय के आलोडन से स्पष्ट है कि भारतीय मूर्तिकला भी निश्चित रूप से वेदकाल में भी गरिमामय स्थान पर समारूढ़ थी। ऋग्वेद

1 मनुस्मृति 2.6

2 श्रीमद्भागवतमहापुराण तृतीय स्कन्ध 12.39

3 प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान अध्याय 1, पृ. 3

में ऋषि इन्द्र की प्रतिमा के क्रय का प्रश्न उठाते हुए कहता है –

क इमं दशभिर्मम इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।[1]

इसी प्रकार सुन्दर रचना के सन्दर्भ में ध्वनित होता है –

चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।[2]

ब्राह्मणग्रन्थों में भी मूर्तिनिर्माण का उल्लेख मिलता है–

तेषां पुरुषरूपकमिव कृता।[3]

पाणिनि के सूत्र – **इवे प्रतिकृतौ**[4] से भी काष्ठ या दारु से आकृति का अनुगमन कर प्रतिकृति बनाने का स्पष्ट संकेत मिलता है। रामायण में देवतागार, देवगृह, देवायतनादि शब्द प्रयुक्त हैं।[5] महाभारत में अनेक तीर्थों का वर्णन है, जिसमें अनेक देवी देवताओं का नामोल्लेख है।[6] बदरीकाश्रम में नर नारायण की पूजा का उल्लेख है। मत्स्यपुराण के दस अध्यायों में प्रतिमा निर्माण सम्बन्धी चर्चा मिलती है। वहाँ शिव का मनुष्याकार प्रतिमा[7] सम्बन्धी विवरण महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पहले शिव का पूजन लिंग के प्रतीक रूप में ही होता था। अग्निपुराण के 13 अध्यायों में प्रतिमा निर्माण का सुविस्तृत वर्णन मिलता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण भी प्रतिमा विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रतिमा निर्माण में वैखानसागम, सुप्रभेद, कामिकागम, अंशुमद्भेद जैसे आगम साहित्य का विशेष अवदान है। पुराणों व आगमशास्त्र में वर्णित वास्तुकला एवं मूर्तिकला के सिद्धान्त ही परिवर्धित होकर वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों में सम्प्राप्त होते हैं, जिनमें विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, विश्वकर्मप्रकाश, मयमत, समरांगणसूत्रधार, बृहत्संहिता, मानसार प्रभृति ग्रन्थ प्रमुख हैं, जिनके आधार पर स्थापित प्रतिमाएं अपने सौन्दर्य एवं कला से सभी को मन्त्रमुग्ध कर देती हैं। इसी प्रकार जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी वर्णित प्रतिमा निर्माण के सिद्धान्तों का अनुप्रयोग आज भी विभिन्न स्थलों पर आश्चर्य उत्पन्न कर देता है।

देवायतनों के गर्भगृह में ही मुख्य प्रतिमा स्थापित की जाती है। प्रतिमा के मान के अनुसार ही मन्दिर के आकार प्रकार का निश्चय किया जाता है। प्रतिमाओं को देश के अनुरूप वस्त्राभूषण से सुशोभित किया जाता है। यथा वराहमिहिर –

---

1 ऋग्वेद 4.24.10

2 ऋग्वेद 6.28.6

3 एतरेय ब्राह्मण सप्तम पञ्चिका द्वितीय अध्याय प्रथमखण्ड 7

4 अष्टाध्यायी 5.3.96

5 बाल्मीकिरामायण बालकाण्ड 77.13, अयो.का. 6.4, 6.11 इत्यादि

6 महाभारत वनपर्व अध्याय 84. वनपर्व अध्याय 139

7 मत्स्यपुराण 259.3-13

देशानुरूपभूषणवेषालङ्कारमूर्तिभिः कार्या।
प्रतिमा लक्षणयुक्ता सन्निति वृद्धिदा भवति।[1]

इसके साथ ही देवताओं के अस्त्र-शस्त्रादि चिह्न, वाहन, वाद्य, मुद्रादि का भी विन्यास मूर्तियों में किया जाता रहा है। प्रतिमा के निर्माण में तालमान या अंगुलमान का प्रयोग होता है। साधारण रूप से एक ताल का मान 12 अंगुल के बराबर माना जाता है। देश व कालानुरूप शिल्पकारों ने विभिन्न तालमानों पर प्रतिमायें बनायी हैं तथापि प्राय: नवताल या दशताल के प्रमाण से देवताओं की तथा अष्टताल से देवियों की मूर्ति का निर्माण किया जाता रहा है। वस्तुत: प्रतिमा निर्माण के सिद्धान्त व नियम पुरातन मूर्तिशिल्पकारों की अनुभूतियों का परिणाम हैं। उसको शास्त्रीय रूप देने से उसके निर्देशानुसार अल्पकुशल शिल्पकार भी सुन्दर मूर्तिनिर्माण में समर्थ हो सकता है। अत: कहा गया है कि -

शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि।[2]

इस प्रकार अति प्राचीनकाल से ही वेद, पुराण, आगम, तन्त्रादि ग्रन्थों तथा जैन व बौद्ध साहित्य से सतत रूप में प्रवाहित वास्तुशास्त्र की ज्ञानगंगा की परम्परा के संरक्षण एवं संवर्धन के सदुद्देश्य से इस विश्वविद्यालय में वास्तुशास्त्र की स्थापना हुई। वास्तुशास्त्रविभाग द्वारा अध्ययन-अध्यापन के साथ ही **वास्तुशास्त्रविमर्श** नामक शोधपत्रिका के प्रकाशन का सारस्वत कार्य भी विगत कई वर्षों से किया जाता रहा है, जिसमें विद्वानों के उत्कृष्ट शोधपत्र प्रकाशित होते हैं। इसी क्रम में **वास्तुशास्त्रविमर्श** के इस त्रयोदशपुष्प को सुधीजनों को समर्पित करते हुए मैं अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। शमिति।

मार्गशीर्ष शुक्ल 12, वि. सं. 2078
दिनांक 15.02.2022

प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति

1 बृहत्संहिता प्रतिमालक्षणाध्याय 29
2 शुक्रनीतिसार चतुर्थाध्याय चतुर्थप्रकरण श्लोक 104

सम्पादकीय

प्राचीन स्थापत्य, साहित्य, कला एवं परम्पराओं से किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का ज्ञान होता है। किसी भी राष्ट्र का प्राचीन स्थापत्य उस राष्ट्र के जीवन, विकास, सभ्यता, संस्कार, मान्यता, कला, सामाजिक व्यवस्था आदि विषयों को प्रकट करता है, इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्राचीन धरोहर के संरक्षण का पूर्ण प्रयास करता है। भारत के किसी क्षेत्र में जब कभी भी अन्वेषण की दृष्टि से खुदाई होती है, तो सनातन संस्कृति के ही स्थापत्य के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भारत में ही विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यता का विकास हुआ। यह भारत की स्थापत्य शास्त्र के उत्कर्ष को प्रदर्शित करता है। भारतीय वास्तुविद्या का प्रारम्भ काल बहुत प्राचीन है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, आगम, स्मृति ग्रन्थों, जैनागम और बौद्ध साहित्य में भी वास्तुविद्या के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वस्तुतः मानसिक विकास के साथ ही मनुष्य ने वर्षा आदि प्राकृतिक कष्टों एवं पशुओं से रक्षण हेतु गुहा आदि में आवास परिकल्पना के उपरान्त प्रस्तरादि से गृह का निर्माण किया। आवास व्यवस्था को अनुकूल व सुव्यवस्थित करने के लिए हजारों वर्षों के अनुभवों के बाद ही नियमों का प्रतिपादन करते हुए आचार्यों ने वास्तुशास्त्र का निर्माण किया ।

सायणाचार्य ने वेदों की रचना का परम उद्देश्य **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोः योऽलौकिकमुपायं वेदयति सः वेदः'**[1] ऐसा प्रतिपादित किया है। अर्थात् इस संसार में मनुष्य के लिए जो कल्याणकर है, आवश्यक है वह उसे प्राप्त हो तथा जो अनिष्टकारक है, अकल्याणकारक है उसका परिहार हो, इस हेतु अलौकिक उपाय प्रदान करने वाला साधन ही वेद है। अतः सम्पूर्ण वैदिक परम्परा वेदों के इसी उद्देश्य को पूर्ण करने हेतु प्रवृत्त हुई है। वेदों के छह अङ्ग तथा उपाङ्ग, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद, आरण्यक, पुराण आदि सभी वेद के उद्देश्य की पूर्ति में साधक हैं। सभी भौतिकशास्त्र लौकिक ज्ञान के द्व ारा इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार का प्रयास करते हैं।

ऋग्वेद आदि में वास्तुविद्या के वर्णन और अन्य उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पूर्व काल में भी यह विद्या व्यवहार में विद्यमान थी। महर्षि कात्यायन ने स्थापत्यवेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है।[2] शिल्प शब्द का प्रथम अनुप्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त

---

1 वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः, तैत्तिरीयभाष्यसंहिता सायणाचार्य, सम्पादक बलदेव उपाध्याय, पृ. सं. 02

2 वेदशाखापर्यायलोचनम् कात्यायनकृतश्च संस्कृतव्याख्यया समलंकृतः चरणव्यूहः पृष्ठम्-71, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, संस्करण-2001

होता है।[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र और अन्य सूत्र ग्रन्थों में वास्तुविद्या के अनेक सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं। सामवेद के गोभिल गृह्यसूत्र में वास्तुविद्या के सिद्धान्त दिये हैं, विशेष रूप में गृह द्वार की दिशा, भूमि परीक्षा, भूमि के प्लव, वृक्ष विन्यास आदि का विचार किया गया है।[2] शुल्वसूत्रों में यज्ञवेदी निर्माण के सन्दर्भ में ज्यामिति के सिद्धान्तों का प्रयोग प्राप्त होता है।

रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक महाकाव्यों में देवालय एवं सामान्य गृहों के विविध वर्णन प्राप्त होते हैं। जैन आगम ग्रन्थों में भी वास्तुदेवों के निमित बलिपूजादि विधियों का वर्णन प्राप्त होता है। जैन आगमों में देवालय को चैत्य कहा है। जैन साधुओं के निवास के लिये विहार के निर्माण की व्यवस्था थी। जैनों में स्तम्भ निर्माण की प्रथा अभी भी दिगम्बर सम्प्रदाय में विद्यमान है। बौद्ध सम्प्रदाय के स्थापत्यों में भी जैन स्थापत्य के समान चैत्य, स्तूप, विहार और स्तंभ की प्रथा विद्यमान थी।बुद्ध व उनेक सम्प्रदाय के महापुरुषों के अस्थि, बाल या भस्म के ऊपर स्मारक बनाये जाते थे, जिन्हे "स्तूप" कहा गया है। इस प्रकार भारत में सुदीर्घकाल से ही अनेकविध वास्तुओं की निर्मिति होती रही है।

विभिन्न शास्त्रों के मानक ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि चतुर्विध स्थापत्य, अष्टादश आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्र के मूल प्रवर्तक ब्रह्माजी है। चतुर्विध स्थापत्य में १. पुरनिवेश २. भवन निर्माण ३. प्रासाद निर्माण ४. जलाशय आदि का समावेश है । शुक्राचार्य जी का कथन है कि अनन्त विद्या और असंख्य कलाओं की गिनती नहीं हो सकती तथापि मुख्य विद्यायें ३२ और मुख्य कलायें ६४ हैं।[3] उन विद्याओं और कलाओं की व्याख्या करते हुए शुक्राचार्य जी कहते हैं -

यद्यत्स्याद् वाचिकं सम्यक्कर्म विद्याभिसंज्ञितम्।
शक्तो मूकोऽपि यत्कर्तुं कलासंज्ञं तु तत्स्मृतम्।।[4]

अर्थात् जो कार्य वाणी से हो सके उसे "विद्या" कहते हैं और गूंगा भी जिस कार्य को कर सके वह कला है। जैसे- शिल्प, चित्र, नृत्य आदि मूक भाव से भी हो सकते है। अतः इन सभी को कला कहते हैं ।

शुक्राचार्य जी ने ६४, जैन सूत्रों में समुद्रपाल ने ७२, कामशास्त्र में यशोधर ने ६४ कलाओं का और आभ्यन्तर भेद से ५१२ कलाओं का वर्णन किया है। ललित विस्तर और श्रीमद् भागवत में ६४ कलायें कहीं गयी हैं। जिन कलाओं के प्रमुख ज्ञाता मालाकार, लोहकार, शंखकार, सुवर्णकार, कुलिन्दर(जुलाहा), कुम्भकार, केसकार(कसेरा), सूत्रधार, चित्रकार

1 उद्धृत प्रासादमञ्जरी, सम्पा.- प्रभाशंकर ओघडभाई सोमपुरा, प्रस्तावना पृ-1

2 गोभिल गृह्यसूत्र चतुर्थ प्रपाठक सप्तमखण्ड 1-14

3 उद्धृत प्रासादमञ्जरी, सम्पा- प्रभाशंकर ओघडभाई सोमपुरा, प्रस्तावना पृ-5

4 शुक्रनीति 4/65

इत्यादि थे। इस प्रकार नृत्य, गीत, वाद्य आदि के साथ विविध कलाओं का समावेश किया गया है। महाभारत में विश्वकर्मा को हजार शिल्पियों का स्रष्टा कहा गया है।[1]

भृगु संहिता में महर्षि भृगु ने १. धातुखण्ड २. साधन खण्ड ३. वास्तुखण्ड वर्णन किया है। जिनमें प्रथम धातुखण्ड में कृषि, जल और खनिज का वर्णन मिलता है। इसके साथ ही खेती करना, जलबन्ध बनाना और जमीन में से द्रव्य आदि खोद कर निकालने का वर्णन भी उपलब्ध होता है। द्वितीय साधन खण्ड में **"नौकारथाग्नियानानां कृतिः साधनमुच्यते"** अर्थात् नौका, रथ, अग्नि से चलते वाले वाहन तथा **"आकाशे अग्नियानं च व्योमयानं तदेव हि"** अर्थात् अग्नियान और व्योमयान का वर्णन मिलता है। तृतीय वास्तुखण्डमें **"वेश्मप्राकारनगररचना वास्तुसंज्ञितम्"** गृह, प्रासाद, नगर, देवालय, जलाशय इत्यादि का वर्णन है।[2] इस प्रकार के विभिन्न वास्तुओं के निर्माणसिद्धान्त एकत्रित होकर वास्तुशास्त्र के स्वरूप में परिलक्षित होते हैं। जिन्हें देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार आचार्यों ने प्रतिपादित किया है।

वास्तुशास्त्र मुख्यत: वातावरण का विज्ञान है । मनुष्य के आस-पास का वातावरण पञ्चमहाभूतों (क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा) व प्राकृतिक शक्तियों (सौर ऊर्जा, गुरुत्व शक्ति एवं चुम्बकीय शक्ति) के सम्मिश्रण से बना है। उसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी इन्हीं पञ्च महाभूतों से मिलकर बना है। न केवल मनुष्य शरीर अपितु यह सम्पूर्ण सृष्टि पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। यह भारतीय मेधा का चमत्कार ही हैं जिसने इस सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों को पञ्च महाभूतों से निर्मित बताया है।

इस जगत को निर्मित करने वाले तत्वों की संख्या निश्चित करने में आज का आधुनिक विज्ञान निरन्तर प्रयत्नशील है। रासायनिक तत्त्वों की गिनती नई खोजों के साथ ही बदलती रहती है। पहले 105 मूल तत्त्व बताये गये, तत्पश्चात् नये रेडियोधर्मी तत्त्वों की खोज के साथ नये तत्त्वों का समावेश होता गया। आज मूल तत्त्वों की संख्या 112 से 118 के मध्य में बताई जाती है। उसी प्रकार विज्ञान के अनेक सिद्धान्त हैं जो एक समय में पूर्ण रूप से सत्य माने गये, परन्तु कालान्तर में नई खोज व नये सिद्धान्तों में प्रतिपादन के साथ असत्य हो गए। उदाहरण के लिए न्यूटन के सिद्धान्त एक काल में परम सत्य मान लिये गये, उसके उपरान्त आइन्सटाईन ने उनके कुछ सिद्धान्तों में संशोधन किया और उसके उपरान्त प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्टीफन हाकिन्स ने आइन्सटाईन के भी कुछ सिद्धान्तों का परिष्कार किया। अत: आधुनिक विज्ञान में किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता है, परन्तु भारतीय वास्तुशास्त्र व अन्य अनेक शास्त्रों के मूल एवं मुख्य सिद्धान्त सहस्रों वर्षों से यथारूप विद्यमान और सर्वमान्य हैं। उनका कलेवर तो परिवर्तित हो सकता है पर मूलसंकल्पना अक्षुण्ण बनी हुई है।

---

1 उद्धृत प्रासादमञ्जरी, सम्पा- प्रभाशंकर ओघडभाई सोंमपुरा, प्रस्तावना पृ-5

2 उद्धृत प्रासादमञ्जरी, सम्पा- प्रभाशंकर ओघडभाई सोंमपुरा, प्रस्तावना पृ-5-6

वातावरण का मनुष्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। आज भी आप किसी व्यक्ति को देखकर यह अनुमान कर पाते हैं कि वह व्यक्ति किस प्रदेश का निवासी है? क्योंकि उस स्थल की भूमि व वातावरण उस स्थान के निवासियों को पूर्ण रूप से प्रभावित करता है। प्रत्येक भूमि का अपना एक गुण होता है, जो उस व्यक्ति पर पड़ता है। साथ ही व्यक्ति का भी उतना ही प्रभाव भूमि व वातावरण पर भी पड़ता है। इसी कारण प्राचीन समय में ऋषियों की तपस्थली रह चुके स्थान आज भी तीर्थस्थलों के रूप में विद्यमान हैं। आचार्यों का कथन है कि किसी भी स्थान पर निर्माण कार्य आरम्भ करने से पूर्व कुछ समय गायों व वैदिक विद्वानों को वहाँ निवास करवाना चाहिये। साथ ही वहाँ वेद-मन्त्रों का मंगलमय उच्चारण हो जिससे भूमि में एक सकारात्मक ऊर्जा का समावेश होगा । उसके उपरान्त निवास करने वाले को शुभ प्रभाव प्राप्त होता है । इस प्रकार अपने लिए शुभ गृह का निर्माण करना मनुष्य का महत्वपूर्ण कर्तव्य है क्योंकि -

परगेहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्त्तक्रिया शुभा।

निष्फलाः स्युः यतः तासां भूमीशः फलमश्नुते।।[1]

अर्थात् किसी स्थान पर किये गए श्रौत स्मार्त्त कर्म का प्रभाव भूमि व वातावरण में समाहित हो जाता है। इसी कारण से भूमि के अधिपति को उसका फल प्राप्त हो जाता है।

भूमि का अपना गुण भी विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों व कार्यों को प्रभावित करता है। इसी कारण से एक नगर में कोई एक क्षेत्र बहुत उन्नत हो जाता है, उसमें सम्भ्रान्त धनवान लोग निवास करने लग जाते हैं। कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं जिनमें स्वतः ही बड़ा बाजार लग जाता है व व्यापारिक केन्द्र का निर्माण होने लग जाता है। कुछ भूमि विद्या बुद्धि को आकर्षित करती है और वहाँ पर विद्याध्ययन के विविध संस्थान स्थापित होने लग जाते हैं, सांस्थानिक क्षेत्र बन जाता है। उसी प्रकार कोई भूमि धर्म श्रद्धा का केन्द्र हो जाती है, वहाँ अनेक प्रकार के देवालयों का निर्माण हो जाता है अथवा तीर्थक्षेत्र बन जाता है। कुछ भूमि नगर में ऐसी होती है जहाँ झुग्गी झोपड़ियाँ विकसित होने लग जाती हैं। अतः यह तथ्य सिद्ध करता है कि किसी क्षेत्र की भूमि व वातावरण एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति के मनुष्यों को आकर्षित करता है। यह भी देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति आसपास के परिवेष व वातावरण में परिवर्तन लाता है तो स्वतः ही उसकी शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक स्थिति में भी परिवर्तन दिखाई देने लगता है। इसी सिद्धान्त का प्रयोग वास्तुशास्त्र करता है।

यदि व्यक्ति सकारात्मक वातावरण में निवास करता है तो उसमें सकारात्मकता उत्पन्न होती है। नकारात्मक प्रभाव में रहने वाला व्यक्ति नकारात्मक गुणों से युक्त होने लग जाता है। वास्तुशास्त्र अपने आसपास के वातावरण में परिवर्तन लाने की बात करता है। प्राचीन

1 बृहद्वास्तुमाला मिश्रप्रकरण 1/ 07

आचार्यों ने प्रतिपादित किया है कि न केवल पृथिवी का वातावरण अपितु यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही मनुष्य को प्रतिक्षण प्रभावित करता है। जिसका अध्ययन ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। वातावरण, चुम्बकीय शक्ति, गुरुत्व बल व सौर ऊर्जा का प्रभाव वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। आप अपने जन्म काल के समय की ग्रह स्थितियों को परिवर्तित नहीं कर सकते परन्तु अपने आसपास के वातावरण में परिवर्तन कर सकते है। जीवन में सकारात्मक परिवर्तन लाने के लिए वास्तुशास्त्र का अनुसरण करना निश्चित रूप से लाभप्रद है।

वास्तुशास्त्र के शास्त्रीय स्वरूप के अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय (केन्द्रीय विश्वविद्यालय), नई दिल्ली का वास्तुशास्त्र विभाग निरन्तर क्रियाशील है। इसी सातत्य में विभाग द्वारा विद्वज्जनों के शोधनिबन्धों से समलंकृत वास्तुशास्त्रविमर्श का प्रकाशन विगत कई वर्षों से किया जा रहा है।

इस वास्तुशास्त्रविमर्श के त्रयोदशपुष्प के प्रकाशन के शुभावसर पर मैं सर्वप्रथम संस्कृत एवं संस्कृति के संरक्षक हमारे यशस्वी कुलपति महोदय परम श्रद्धेय प्रो. मुरलीमनोहर पाठकजी को सादर नमन करता हूँ, जिनके सन्निर्देशन एवं संरक्षकत्व में वास्तुशास्त्रविमर्श का यह पुष्प सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित हो रहा है। इसी क्रम में विश्वविद्यालय के निवर्तमान कुलपति प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी को सादर प्रणाम करता हूँ, जिनकी सत्प्रेरणा हमें प्रचोदित करती है। इस पावनवेला में मैं उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार के माननीय कुलपति एवं वास्तुशास्त्र विभाग के संस्थापक विभागाध्यक्ष परम पूजनीय गुरुवर्य प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठीजी के चरणकमलों में सादर प्रणामांजलि निवेदित करता हूँ, जिनके कुशल नेतृत्व में विभाग पुष्पित व पल्लवित हुआ। इनका सत्परामर्श एवं मार्गनिर्देशन हमें नित्य सारस्वतसाधना हेतु अभिप्रेरित करता है। इसी सन्दर्भ में शोध एवं प्रकाशन समिति के सभी सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिनके सहयोग एवं परामर्श से वास्तुशास्त्रविमर्श का यह त्रयोदशपुष्प प्रकाशित हो सका। मुद्रणकार्य हेतु गणेश प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगी सुहृज्जनों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। शमिति।

डॉ. अशोक थपलियाल
अध्यक्ष- वास्तुशास्त्र विभाग

शोध एवं प्रकाशन समिति

१.	डॉ. अशोक थपलियाल, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष	अध्यक्ष
२.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य
३.	डॉ. देशबन्धु	सदस्य
४.	डॉ. प्रवेश व्यास	सदस्य
५.	डॉ. योगेन्द्र कुमार शर्मा	सदस्य
६.	डॉ. दीपक वशिष्ठ	सदस्य

विषयानुक्रमणिका

वास्तुशास्त्रानुसारेण गृहसज्जा

डॉ. अशोक थपलियालः
पंकज सेमल्टी

वास्तुरिति शब्दः 'वस् निवासे' धातुना तृण् प्रत्यय-योगेने निष्पन्नोऽस्ति। **'वस्तुर्वसतेर्निवास कर्मण'**[1] इत्यस्यानुसारेण मनुष्यो यत्र निवसति सः वास्तुरुच्यते इति। अस्य गृह-देवालय-नगर-ग्रामादयश्च नैके भेदाः भवन्ति। मानवाः स्वरूच्यनुसारमेव स्वकीयभवनादीनां निर्माणं कुर्वन्ति। तत्र भवनादीनां निर्माणायापि वास्तुशास्त्रे शुभफलानि प्रोक्तानि -

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्।
इष्टके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे॥[2]

गृहं तृणैः निर्मितं स्यात् उत वा आरसशिलैः (संगमरमर marbles) रचितं सुन्दरं भवनम्, तस्य निर्माणस्य फलं तु गृहस्वामी प्राप्स्यत्येव। भवननिर्माणानन्तरं तस्य भवनस्य सज्जायाः अलङ्करणस्य वा प्रश्नस्तु स्वाभाविक एवास्ति। यतोहि को नाम व्यक्तिः सुन्दरं सुसज्जितं भवनं नेच्छतीति। उत्तमप्रकारेणालङ्कृतं भवनमेव रमणीयं नयनाभिरामं वा जायते। इदृशं च भवनं मानसिकशान्तिं प्रददाति। यतोहि यत्किमपि प्रसन्नतां ददाति तदेव सुन्दरता वर्तते। गृहसज्जायारपि मुख्योद्देश्यं मानसिकशान्तिरेव भवति।

सज्जेति शब्दः **'सम् + अज् + टाप्'** इत्यनेन निर्मितोऽस्ति। यस्याभिप्रायो भवति-सौन्दर्यकरणमिति। वास्तुशास्त्रानुसारेण भवनादीनां निर्माणानन्तरं गृहसज्जायारत्यधिकं महत्त्वं जायते। तत्र सज्जायाः अर्थः केवलं वस्तुस्थापनेन नास्त्येव। यतोहि यदि किमपि वस्तु सुन्दरमस्ति तस्यायमर्थो नास्ति यत्तच्छोभनमपि भवेत्। अतः एतत् सज्जाकार्यमपि वास्तुशास्त्रनियमानुसारेणैव कर्तव्यम्। अन्यथा अस्याः विपरीतप्रभावोऽपि भवितुं शक्नोति।

येषां भवनानामलङ्करणं वास्तुनियमानुसारेण नैव क्रियन्ते तादृशेषु भवनेषु निवासेन मानसिकरोगाः सम्भाव्यन्ते। सार्धमेव अभ्यागतेष्वपि निकृष्टप्रभावाः आपतन्ति। गृहसज्जायाः कार्यं प्राकृतिकतत्वानां शक्तीनाञ्च सन्तुलनेन समुचितप्रबन्धनेन शास्त्रीयदृशा भौतिकसुविधानां समुच्चितव्यवस्थापनमप्यस्ति।

शास्त्रीयदृष्टिकोणे कस्याञ्चिदपि कलायां महत्त्वपूर्णं तन्निहितं सौन्दर्यतत्त्वमस्ति। तत्

1. निरुक्त 10/02/16
2. बृहदवास्तुमा. अ. 1 श्लो. 5

केवलं शास्त्रमानेन सम्भवो जायते। - ''**शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एवहि**''[1] सुन्दरकलात्मककृतिः द्रव्यैः तदैव समुचितं यदा तेषां द्रव्याणामुपयोगः शास्त्रीयमानेन कृतो भवति। भारतीयवास्तुशास्त्रे सज्जेत्यादिभिः सम्बन्धितं विस्तृतं वर्णनं प्राप्यते। तत्र गृहसज्जा तु द्वयोः भागयोः विभक्ता अस्ति।

1. बाह्य-सज्जा 2. आन्तरिक-सज्जा चेति।

1. **बाह्य-सज्जा**

बाह्यसज्जायारन्तर्गते तु गृहात् बर्हिप्रदेशस्य सज्जा भवति। यथा-वाटिका, जलमण्डपम्, वापी, धारामण्डलम् (Fountain), द्वारतोरणम्, बाह्यभित्तिका, चित्रमूर्ति इत्यादयश्चास्यान्तर्गते आयान्ति।

2. **आन्तरिक-सज्जा**

आन्तरिकसज्जायाञ्च पुनः गृहस्यान्तरिक-सज्जा भवति। यथा मूर्तिः, चित्रम्, वर्णः, प्रकाशव्यवस्था, जलव्यवस्था, वस्तुधानी, पर्यङ्कः, आसन्दश्चेत्यादीनां सज्जा, एषां स्थापनानाञ्च समुचितव्यवस्था अत्र क्रियते।

बाह्य-सज्जा- भवनस्य बाह्यवातावरणं स्वच्छं रमणीयञ्च कर्तुं प्राचीनकालादेव वास्तुशास्त्रस्य ग्रन्थेषु वाटिका-जलमण्डप-धारामण्डलादीनां निर्माणाय सुविस्तृतं वर्णनं प्राप्यते। वास्तुराजबल्लभानुसारेण राजगृहस्य वामभागे दक्षिणभागे च मनोरञ्जनाय त्रिविधवाटिकानिर्माणाय निर्देशनं प्राप्यते।

वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां त्रेधा कार्या वाटिका क्रीडनार्थम्।
एकद्वित्रिर्दण्डसंख्या शतं स्यान्मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः॥[2]

अत्र वाटिकायाः दण्डमानं वर्णयन् श्रीमण्डनेन श्रेष्ठमध्यमकनिष्ठवाटिकानां सम्यग् प्रतिपादनं कृतं वर्तते। श्लोकानुसारम् - 100 मानदण्डवती कनिष्ठवाटिका, 200 मानदण्डवती मध्यमा, 300 मानदण्डेन च युक्ता ज्येष्ठा वाटिका भवति। अत्र जलयन्त्रैः वाटिकायारलङ्करणं करणीयमित्युच्यते। एतादृशी वाटिका राज्ञां सुखोपभोगाय मन्यते।[3]

ईदृशी वाटिका महाराणा संग्रामसिंहेन (1710-1764 ई.) कारिता या अधुना ''सहेलियों की बाड़ी'' इति नाम्ना प्रसिद्धा वर्तते। तस्यां वाटिकायां धारायन्त्रस्य समीपे चम्पक-कुन्द-नवमल्लिका-मल्लिका- नारिकेल-श्वेतपाटलपुष्प-कर्णिकार-मधूक- पूगादयः अनेके वृक्षाः भवेयुः।[4] वाटिकायाः सज्जायै, ग्रीष्मऋतौ शीतलजले क्रीडनाय मण्डपयुक्ता वापी (जलकुण्डः) निर्मिता स्यात्। अपि च बालानां वनितानाञ्च गायनाय वर्षा-वसन्तऋत्वोः मनोरञ्जनाय दोलानिर्माणस्य वर्णनं प्राप्यते। यथा -

---

1. अपराजितपृच्छा 32/22
2. वा.रा.ब. 9/18
3. वा.रा.ब. 9/19
4. वृ. वा. मा. पृ. 118, श्लो. 36-39

आस्थानं प्रतिसेचनाय च घटीयन्त्रः सुसारो भवेत्।
दोला स्त्रीजनखेलनाय रुचिरे वर्षावसन्तोत्सवे॥
बाला - प्रौढवधू सुमध्यवनितागानैर्मनोहारिभिः।
ग्रीष्मे शारदकेऽथ शीतलजलक्रीडा शुभे मण्डपे॥[1]

वर्त्तमानसमये एतासां वाटिकानां लघुरूपं गृहाणाम् उद्यानेषु द्रष्टुं शक्यते। तत्र सज्जायां दोलादीनां प्रबन्धः आधुनिकसमये "हरियाली तीज" पर्वणः समये द्रष्टुं शक्यते। उद्यानेषु च प्रयुज्यमानानि लघु-जलप्रपातानि (Water fountain) शास्त्रोक्तधारा-यन्त्राणां लघुरूपाणि एव सन्तीति द्रष्टुं शक्यन्ते। अधुना तु चर्पटेषु (in societies) एतासां वाटिकानां निर्माणम् उद्यान मध्ये कर्तुं शक्यते। अथ च उद्यानेषु उपर्युक्तवृक्षाणां रोपणं कर्तुं शक्यते। केषुचित्समाजेषु (in societies) तु मुखद्वारेष्वेव समीचीनमलङ्करणं क्रियते। चतसृषु दिक्ष्वेव ईदृशानां वृक्षाणां स्थापनाय वास्तुशास्त्रानुसारं विचार्य सम्यग्दिशानुसारं तत्र वृक्षारोपणानि कर्तुं शक्यन्ते। पुष्पवाटिकाष्वपि (Also in flower park) वास्तुशास्त्रानुसारेण वृक्षाणां रोपणं कृत्वा मानसिकसुखशान्तिप्रसन्नतादिशुभफलानि प्राप्तुं शक्यते। वर्त्तमानस्य चिन्तायुक्ते व्यस्तजीवने च एतासां वाटिकानामाधुनिकीकरणं कृत्वा जीवनं सुखयुक्तं स्वास्थ्ययुक्तञ्च करणीयम्। आधुनिकयुगे महानगरेषु स्थानस्याभावस्तु भवत्येव। जनाः चर्पटेषु (in flats) निवसन्ति न तु विस्तृतभवनेष्विति। अतः वाटिकायाः निर्माणं बालादीनां क्रीडनाय भ्रमणाय च क्रियते।

अधुना पाकशालोद्यानम् (Kitchen Garden) जैविककृषिश्च (organic farming) प्रचलने दृश्यते। एवं प्रकारेणैव व्यक्तिः स्वस्यैव गृहप्रग्रीवे छदो वा लघुवाटिकानां निर्माणं करोत्विति समीचीनोपायः। एवमेव वर्त्तमाने गृहस्य बाह्यभित्तिष्वपि स्थापितेषु कुण्डेषु लघुपादपाः लताश्च भवनस्य सौन्दर्यं वर्धयन्ति।

आन्तरिक-सज्जा -

अत्र द्वारसज्जा-प्रकाशव्यवस्था-जलव्यवस्थानां, गृहे प्रयुज्यमानानि मूर्तिचित्रादीनां, आसनोपवेशनादिव्यवस्थानां रङ्गव्यवस्थादीनाञ्च विषये विचार्यते।

द्वारसज्जा-

आन्तरिकसज्जायां द्वारस्य तु मुख्य भूमिका वर्तते, यतोहि गृहे प्रवेशनार्थं तदेवैको मार्गो भवति। द्वारमेव गृहस्वामिनः मानसिक-सामाजिकार्थिकस्थितिनां दर्शकमस्ति। इदमेव द्वारं गृहे सकारात्मक-नकारात्मकवस्तूनां प्रवेशस्रोतमस्ति। पूर्णरूपेणालङ्कृतं सुसज्जितञ्च द्वारं दृष्ट्वैव जनानां मनसि प्रसन्नता शान्तिः सकारात्मकता च आयाति। परञ्च एतद्विपरीतम् असज्जितं निरलङ्कृतद्वारं नकारात्मकमेव फलं प्रददाति।

वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु द्वारसज्जा-निर्माणादीनाञ्च विषये विस्तृतं विवेचनं प्राप्यते। कीदृशं द्वारं भवेत्? किञ्च तस्य परिमानम्? का स्यात् तस्य दिशा? केन पदार्थेन च निर्मितं भवेत्?

1. वा.रा.ब. 9/24

कीदृशेन दारुणा निर्मितं स्यात्? कुत्र च स्थापनीयमित्येतेषु विषयेषु तत्र विस्तृतरूपेण प्रतिपादितं वर्तते।

पुरातनसमये तु द्वाराणि विशेषरूपेण काष्ठनिर्मितान्येव आसन्। परञ्च अधुना नानाधातुभिः, फाइबरेत्यनेन, अन्यैश्च कृत्रिमपदार्थैः (Plastic seats etc.) विनिर्मितानि द्वाराणि जायन्ते। द्वारसज्जायाः कृते काष्ठद्वारेषु वास्तुशास्त्रप्रोक्ताः विविधाकृतयः निर्मातुं शक्यन्ते। परञ्च अन्यपदार्थैः निर्मितेषु द्वारेषु तु आकृतयः बहिर्वर्तिरेव स्थापितुं शक्यन्ते।

समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थानुसारेण-**तद्द्वारपार्श्वयोः कार्यौ**[1] द्वारस्योभयपार्श्वे प्रतिहाराः अलङ्कृताः भवेयुः। अलङ्करणाय एतेषां हस्तेषु वेत्रदण्डानि स्युः। तेषां वस्त्राभूषणानि सुन्दराणि भवेयुः। तेषाञ्च स्वरूपाणि नवयुवकसदृशानि स्युः। एतैः प्रतिहारिणैः सह छात्री-वामनिका- कुब्जादयः लावण्ययुक्ताः स्त्रीप्रतिहारिण्यपि द्वारमुभयतः स्थापनीयाः। यथा - **''छात्री वामनिका कुब्जा.....''**[2] अधुनाऽपि एतत् सर्वं विशालगृहेषु (in farm Houses) बृहद् आपणेषु (in shopping malls), देवालयेषु च दृश्यते एव। शंखकमलादीनाञ्च उज्ज्वललक्षणैः विचित्रितानि, शङ्खेभ्यश्च उद्भिज्यमानानि रत्नानि स्वर्णमुद्राश्च परितः धारयन्तः निधयऽपि वास्तुशास्त्रे द्वारहेतुः प्रयोज्याः भवन्ति। अस्मिन्नेव क्रमे द्वारे अष्टमङ्गलायाः गौर्यारपि निवेशनं शुभफलदायकं प्रोक्तमस्ति। **''कार्याष्टमङ्गला द्वारे वामभिः शंखमत्स्योः''**[3]

द्वारमण्डलस्य मध्ये लक्ष्म्याः निवेशनं भवेत् -

''द्वारमण्डलमध्यस्था स्थाप्यमाना गजोत्तमैः''[4]

द्वारे पुष्पमालादिभिः अलङ्कृता सवत्सा धेनुः, गणपत्यादीनां स्थापनं कल्याणप्रदायकं प्रोक्तम्। द्वारे चाष्टमङ्गलाकृतीनामपि निवेशनं भवेत्। अत्राष्टमङ्गलचिह्नानि **शिंगार कलश दप्पण चामर धय वियण छत्र सुपइटठा। इय अठ्ठ मंगलाई अटठुन्तर सय जुदाणि एक्केक्वंकं**[5]**। हरिवंशपुराणे तु - ''छत्र चामर शृंगारैः कलश ध्वज दर्पणैः व्यजनैः सुप्रत्तीकैश्च प्रसिद्धैरष्टमंगलैः''**[6]

स्वास्तिक - श्रीवत्स - नन्धापर्व - वर्धमानक - महावीरस्वामी - भद्रारूप - कलश - मीनयुगल - दर्पणादीनामुत्कीर्णनाय तु जैनग्रन्थेष्वपि कथितमस्ति। अष्टमङ्गलचिह्नानि च भारतीय-परम्परायां प्राप्यते। अस्यामेव परम्परायां द्वारेषु स्व-स्वधर्मानुकूलं धार्मिकचिह्नान्यपि स्थाप्यन्ते। एतासु परम्परासु द्वारेषु तोरण-बन्धनवार-वृक्षपत्र-पुष्पमालादिभिश्च सज्जा क्रियते। आधुनिके काले च द्वाराणामलङ्करणं विविधविद्युतयन्त्रैरपि जायते। दक्षिणभारते

1. स. सू. धा. अ. 34 श्लो 22,23
2. स. सू. धा. अ. 34 श्लो 24
3. वा. सा. पृ. 9 श्लो. 35
4. वा. सा. पृ. 9 श्लो. 36
5. तिलोयपणन्ती (अधिकार-4)
6. हरिवंशपुराण, सर्ग-2 पिनसेनकृतम्

च द्वारस्य समक्षं रङ्गवल्लिरपि निर्मीयते, तदप्येकं द्वारसज्जायारेवाङ्गं भवति। कुत्रचिद् गृहेषु द्वारसमक्षं एकस्मिन् विशालपात्रे जलेन सह एकं पुष्पं स्थाप्यते। गृहाणां मुखद्वारेषु काष्ठेन धातुना वा निर्मितमेकं नामपटलं (Name Plate) वर्त्तमानसमये प्रचलनेऽस्ति। केचन चीनदेशस्य फेंगशुई मतानुसारेण स्वगृहे पवनशृंखलां (wind chain) स्थापयन्ति। अतः स्पष्टमेव यत् मुखद्वारस्यालङ्करणन्तु सुखशान्तिसमृद्धीनाञ्च प्रतीकमस्ति। द्वारस्य स्वच्छता तु शुभभाग्यस्य, अस्वच्छता दुस्समयस्य अवनत्तेश्च कारणं भवति। द्वारस्य निकटं अवकरस्तु दुर्भाग्यस्य कारकं भवति।

प्रकाशव्यवस्था विद्युदुपकरणानि च-

प्रकाशस्य तु गृहस्य सौन्दर्यीकरणे अत्यधिकं माहात्म्यमस्ति। गृहे समुचितमात्रायां प्राकृतिकप्रकाशस्य वायोश्च संचरणं स्यात्। एतत्कृते पुरातनकालादेव गृहाणि समुचितवास्तुयोजनामाध्यमेन निर्मीयन्ते। प्राकृतिकप्रकाशाय तु गवाक्ष-वातायन-द्वारादीनि च गृहेषु निर्मीयन्ते। कृत्रिमप्रकाशाय च विद्युदुपकरणानि, दीपादीनाञ्च प्रयोगाः जायन्ते। समुचितमात्रायां गृहे प्राकृतिकप्रकाशः, विद्युतं धनञ्च उभयमपि रक्षति। गृहस्य च वातावरणं शान्तिपूर्णं सन्तोषजनकञ्च भवति। गृहे प्रकाशव्यवस्थातः पूर्वम् इदमस्ति ध्यातव्यं यत् कक्षः कस्यां दिशायां निर्मितोस्ति। रवेश्च प्रकाशः तस्मिन् कक्षे कस्याः दिशः आयाति? अपि च ऋत्वानुसारेण प्रकाशस्य ऊष्मतायाश्च तीव्रतायाः ज्ञानम् अवश्यमेव करणीयम्। येन प्राकृतिकप्रकाशस्य सम्यक् प्रयोगः कर्तुं शक्यते। कस्मिन्नपि कक्षे आवश्यकतानुसारमेव प्रकाशो भवेत्। एतदतिरिक्तं शुभं नैव मन्यते। कक्षस्य प्रकाशावश्यकता तु तस्य निर्माणाकारे उद्देश्ये च निर्भराऽस्ति। एकस्मिन् क्षेत्रे अपेक्षिता प्रकाशस्य मात्रा लक्सेति स्तरे व्यक्तीक्रियते यच्च लूमेन्सेति क्षेत्रस्य साम्यमस्ति।

अधोलिखिततालिकया नैकेभ्यः कार्येभ्यः लक्सेति स्तरविषये ज्ञातुं शक्यते।

कार्यम्	**लक्स लूमेने प्रतिवर्गः**
सार्वजनिकक्षेत्रम् (अन्धकारमयपरिवेशेन सह)	20-50
सरलोन्मुखीकरणम्	50-100
कार्यकारी क्षेत्रम्	100-150
गोशाला-गृह-प्रेक्षागृहाणि च	150
कार्यालयः/शैक्षणिक-कार्यम्-	250
कार्यालयः, सामान्यकार्यम्, सङ्गणकम, अध्ययनम् पुस्तकालयः	500

वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु कृत्रिमप्रकाशस्य स्थानस्य (दीपस्थानस्य) वर्णनं प्राप्यते। वास्तु-राजबल्लभे दीपस्य स्थानं दक्षिणभागे भवेदिति निर्देशनम्। अस्यालयस्य तुङ्गता द्वारस्य अर्गलासदृशा भवेत्। अथवा उभौ समानतररेखायामेव स्याताम्। दीपस्थानं वामभागे मध्ये उत वा अन्यस्यां कस्यामपि दिशायां नैव भवेत्। परञ्च देवालयेषु नियमोऽयं न मन्यते तत्र वामभागे

दीपो भवति - **देवालयो दक्षिणे दिक्भागे।**[1] विशिष्टपूजनाय कार्यसिद्धये वा दक्षिणे वामभागे च उभयत्रैव दीपं स्थापयितुं शक्यते। **घृतदीपो भवेद्दक्षे तैलदीपस्तु वामतः।**[2] प्रकाशाय प्रकाशोपकरणानि गृहदक्षिण-भागे स्थापितव्यानि। उत वा आग्नेये (दक्षिणपूर्वे) कोणेऽपि कर्तुं शक्यते। विद्युदुपकरणानाम् आग्नेयोपकरणानाञ्च स्थापनम् आग्नेयदिशायां शुभं भवति। दूरदर्शनम् उष्णयन्त्रम्, यज्ञवेदी च एतानि सर्वाणि उपकरणानि आग्नेयभागे स्थापितव्यानि। वायुप्रदायकान्युपकरणानि यथा उत्पीठिकाव्यजनम्, शीतयन्त्रम् (A.C. Cooler) वायुशोधकयन्त्रञ्च उत्तरदिशायां स्थापितुं शक्यन्ते। शीतयन्त्रस्य (fridge) स्थापना पश्चिमे भवेत्।[3] यतोहि युगेऽस्मिन् नूतनान्युपकरणानि व्यक्तेः आवश्यकतानुसारेण निर्मीयन्ते। विद्युदुपकरणेषु सन्नपि सर्वेषां प्रकृतिः भिन्ना भवति। वस्तुतः **उपकरणानि तु तेषां प्रकृत्यनुरूपमेव स्थापितव्यानीति।**[4]

<u>गृहे प्रयुक्तानि चित्रयन्त्रादीनि</u> - वर्तमानसमये वस्तूनि प्रायः सुगमतया समुपलभ्यन्ते। अनेन कारेण सुविधानुसारेण व्यक्तिः यदिच्छति तदेव स्वकीये गृहे सज्जायाः कृते स्थापयति। तस्य च वस्तुनः प्रकृतिं न विज्ञाय तस्य कुत्रापि स्थापनं लाभकरं न भवति। परञ्च सज्जेयं वास्तुशास्त्रानुसारेण क्रियते चेत्तत्र वस्तूनां निवेशनं समुचितस्थान-शुभाशुभादिविषयेषु सम्यक्तया विवेचनं कृत्वा सम्पाद्यते, तदा व्यक्तिः सुखसमृद्धिशान्त्यादिफलं प्राप्नोति। वास्तुशास्त्रीयग्रन्थे समराङ्गणसूत्रधारे प्रयोज्याप्रयोज्यवस्तूनां विषये विस्तृतं प्रतिपादनं प्राप्यते।[5] अत्र प्रयोज्ये चित्रादौ सर्वविधदेवीदेवतादयः प्रयोज्याः नैव मन्यते। दैत्य-ग्रह-तारा-यक्ष-गन्धर्व-राक्षस-पिशाच-पितृ-प्रेत-विधाधर-भुजङ्ग-चारणानि तेषाञ्च जायापुत्रादयः, स्त्रीपुरुषप्रतिहारी एषाञ्च अधिकारीवर्गाः तेषामस्त्रशस्त्राणि अप्सरस्गणाश्च एतत् सर्वं गृहे अप्रयोज्याः कथिताः।[6] अस्मिन्नेव क्रमे दीक्षित - धृतव्रत-दुर्जन-नास्तिक-क्षुधाव्याकुल- ब्याधिबन्धन-शस्त्राग्नि-तैल-पङ्कधूलि-शूल-ज्वरादिभिः पीडितजनाः, मत्तोन्मत-नपुंसक-वस्त्रविहीन-अन्धबधिरादयश्चापि अप्रयोज्याः सन्ति।[7] अस्मिन्नेव क्रमे रामायणमहाभारतादीनां कस्याऽपि वा युद्धघटनायाः चित्राणि, मलयुद्धम्, खड्गयुद्धं गजयुद्धं वा चित्रेषु नैव दर्शयेत्। ऐन्द्रजालिकस्य, शिलादिभिश्च निर्मितानि राक्षसादीनां चित्राणि, विलपन्तानां मनुष्याणां चित्राणि उत वा[8] यानि चित्राणि दृष्ट्वा मनसि भय- घृणा-विरक्तय उत्पद्यन्ते, तादृशानि चित्राणि नैव स्थापितव्यानि। गृहे केवलं हास्य शृङ्गाररसौ

1. वा. रा. ब. अ. 5 श्लो. 22
2. श्री दु सि. पा. पृ. 08
3. उदधृत - वा. प्र. पृ. 109
4. भा.वा.शा.पृ. 120-125 उद्धृतम् - वा. प्र.
5. समराङ्गण सू. - अ. 34
6. समराङ्गण सू. - अ. 34
7. समराङ्गण सू. - अ. 34
8. वृ. दै. र. 86/418

एव प्रयोज्यौ स्तः।[1] यतोहि हास्यश्रृङ्गाररसाभ्यामेव मानवजीवने आनन्दो भवति। श्रृङ्गाररसस्योद्दीपनविभावाः आलम्बनस्य सौन्दर्यम्, प्रकृतिसौन्दर्यम्, रमणीयमुपवनम् वसन्तऋतुः, भ्रमरगुञ्जनम्, खगकूजनादयः सन्ति। अतः एतादृशानि चित्राणि गृहे प्रयोक्तुं शक्यन्ते। आधुनिके समये सौम्यपक्षियुगलम् दोलायां स्थितस्य मिथुनस्य च चित्राणि सरलतया प्राप्तुं शक्यन्ते। नवदम्पत्तिकक्षेऽपि एतादृशानि चित्राणि भवेयुः। यतोहि चित्राण्येतानि श्रृङ्गाररसस्य उत्पादकानि भवन्ति। गृहे हिंसकपशूनां चित्राणि नैव स्थापनीयानि। तत्र- सिंह -व्याघ्र-सूकर-क्रुद्धगज-अश्व-उष्ट्र-बिलाव-गर्दभ-कप्यादयः अप्रयोज्याः मन्यन्ते।[2] गृहाणां कक्षेषु तु फलपुष्पादीनां चिह्नैरलङ्कृतानि, मनोहराणि विशिष्टानां पशु-पक्षिणां चित्राणि च स्थापितव्यानि। विशिष्टानाम् ऋतूनामालेखनानि, मत्स्यसुशोभितानि नलिनीवनैराच्छादितवाप्यालेखनानि, पिंजरस्थ शुक-सारिका- कोकिल- मयूरादीनाञ्च चित्राणि, विचित्रपुष्पपत्रलतानामालेखनानि अथ च मनोहरकुमारकुमारीणां चित्राणि प्रयोज्यमानानि कथितानि।[3]

वर्त्तमानेसमये गृहेषु प्रायः चित्रस्थापनानां प्रचलनमधिकं वर्तते। देशकालस्थित्यनुसारेणैव गृहस्यालङ्करणं कुर्यात्। गृहेषु स्थाप्यमानानां चित्राणां साक्षात् सम्बन्धस्तु अस्माकं मनोभिः सह वर्तते। अतः स्वस्थं स्वच्छञ्च मनरेव अस्मान् प्रगतिमार्गे नयति। वास्तुनियमानाञ्च उचितानुपालनम् अस्माकं जीवनं सुखास्पदं करोतीति।

---

1. वा. सा. पृ 186
2. वा. सा. पृ 187
3. वा. प्र. पृ 112

वास्तुशास्त्रदृष्ट्या बहुतलीयावासीयभवनेषु शालविधानविमर्शः

डॉ. देशबन्धुः
विनयकुकरेती

वास्तुशास्त्रं भारतीयसंस्कृतेः समृद्धतमायाः परम्परायाः दर्पणं वर्तते । शास्त्रेऽस्मिन् तात्कालिकजीवनशैल्याः विस्तारो विभिन्नानां धार्मिकलौकिकानाञ्च परम्पराणामुत्कृष्टप्रयोगः समाजोपयोगिनीनां विभिन्नानां कलानाञ्च समावेशो दृश्यते । वास्तुशास्त्रस्योद्भवो वैदिककाल एव जातः। ऋग्वेदस्य विभिन्नासु ऋचासु पौनःपुन्येन वास्तुदेवता प्रार्थ्यते यत् सोऽस्मान् रक्षेदिति। भारतीयचिन्तनस्यादिस्रोतत्वेन वेदा एव मन्यन्ते । चत्वारो वेदाः। चतुर्णामपि वेदानां चत्वार उपवेदाः। ते च ऋग्वेदस्यायुर्वेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेदस्सामवेदस्य गान्धर्ववेदोऽथर्ववेदस्य च स्थापत्यवेदः। स्थापत्यवेद एव वास्तुशास्त्रस्यादिन्तमेन ग्रन्थत्वेन स्वीक्रियते । इत्थं शास्त्रस्यास्य मूलं वेद एव । वस्तुतस्तु वास्तुशब्दस्य साक्षादर्थो निवासस्थानमेव वर्तते यतोहि संस्कृतव्याकरणानुसारं शब्दस्यास्योत्पत्तिः वस् धातोर्जायते । यस्य प्रयोगो निवासार्थे क्रियते । निवासस्य चिन्तनसमये गृहस्येव चित्रं मनसि स्फुरति। भारतीयमनीषिभिः चतुर्ष्वाश्रमेषु गृहस्थाश्रमस्य महत्त्वं सर्वाधिकं स्वीकृतम् । गृहस्थस्य वासो गृह एव भवति । गृहं बिना गृहस्थस्य क्रियाः न सिद्ध्यन्ते। यथोक्तम्–

''गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्ध्यन्ति गृहं विना''।[1]

अनेनेव गृहस्य महत्त्वं ज्ञायते । वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु भूमिचयन-दिक्कालनिर्धारण-वास्तुपदविन्यास-शालविधान-शिलान्यास-गृहनिर्माणादीनां विचारो मुख्यरूपेण प्राप्यते ।

शोधपत्रेऽस्मिन् बहुतलीयावासीयभवनेषु शालविधानस्य वर्णनं क्रियते। आधुनिकयुगेऽस्मिन् भूमेः न्यूनताकारणतः बहुतलीयावसीयभवनानां प्रचलनमस्ति। यस्य मुख्यकारणं जनसंख्यावृद्धिरेव वर्तते। आवासादीनामावश्यकतायाः पूर्तये बहुतलीयावासा अत्यधिकं महत्वं भजन्ते। प्राचीनकालेऽपि बहुतलीयभवनानां निर्माणं भवति स्म। यस्य प्रमाणं शास्त्रीयग्रन्थेषु स्पष्टरूपेणोपलभ्यते परञ्च तस्मिन् समये बहुतलीयावासानां कारणं जनसंख्याघनत्वं नासीत् अपित्वेतस्य मुख्यप्रयोजनं गृहस्य सौन्दर्यवर्धनं कलात्मकता चासीत् । एषु बहुतलीयभवनेषु शालाविधानस्य विचारोऽपि प्रमुखत्वेन वास्तुग्रन्थेषु प्राप्यते । वास्तुशास्त्रे शालाशब्दस्य प्रयोगः

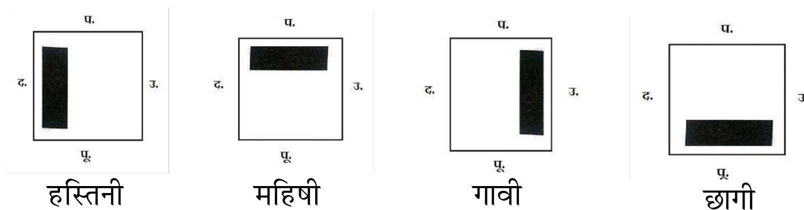
---

1. उद्घृतं वास्तुरत्नाकरः भूपरिगहप्रकरणम् श्लो.

विभिन्नेष्वर्थेषु प्राप्यते, यस्याभिप्रायः कक्षः, गृहं सभाभागादयश्च सन्ति। मुख्यरूपेण शालाशब्दस्य प्रयोगः कक्षसन्दर्भे क्रियते । गृहस्य अन्यभागा अपि शालेति शब्देन ज्ञायन्ते यथामरकोशेऽपि शालाशब्दस्यार्थः वासः कुटिः कक्षः सभा वास्ति । प्रयोगात्मकदृष्ट्या शालाशब्दः न केवलं कक्षस्य कृतेऽपितु सम्पूर्णभवनस्य कृते भूखण्डस्य कृते वा प्रयुज्यते यथा गौशाला अश्वशाला गजशाला मनुष्यशालादयश्च । वास्तुग्रन्थेषु तृण-मृण्मय-इष्टिका-पाषाणादिगृहमाध्यमेन गृहस्य चत्वारः भेदाः वर्णिताः[1]। केषुचित् ग्रन्थेष्वष्टभेदा अपि वर्णिताः[2]। गृहस्य इमे भेदा आचार्याणां चिन्तनशक्तेः द्योतकास्सन्ति । इयं चिन्तनशक्तिरद्यापि विविधानां भवनानां निर्माणे दृश्यते । गतदशकेषु बहुतलीयावासीयभवनानां प्रचलनं वर्धितम् । मानवेन स्वस्य सुविधानुसारं एतेषां भवनानां निर्माणं कृतं परञ्च क्रमेऽस्मिन् भवननिर्माणस्य वास्तुशास्त्रीयनियमाणामुल्लघनं जातम् । यस्य दुष्प्रभावः अद्यतनयुगे दरीदृश्यते। वास्तुशास्त्रे एकशालभवनादारभ्य दशशालभवनपर्यन्तं पञ्चशतोत्तराष्टच-त्वारिंशतसहस्रदशलक्षात्मकाः (10,48,500) भेदाः प्राप्यन्ते । एतेषां भेदानां शुभाशुभफलमपि तत्र प्रस्तुतीकृतमस्ति । प्रप्रथमं शालभवनानां शास्त्रीयदृष्टिकोणं प्रस्तूयते ।

एकशालभवनम् - एकशालभवनस्यार्थोऽस्ति कस्याञ्चिदेकस्यामेव दिशि भवननिर्माणम्। एकशालभवनस्य चत्वारः मुख्यभेदाः सन्ति, दिक्भेदकारणतः प्रत्येकं भेदस्य शुभाशुभफलेऽपि भिन्नता वर्तते । अस्य मुख्याधारः आलिन्दं वर्तते । एतेषां भेदानां विश्लेषणमत्र प्रस्तूयते । तद्यथा।[3]

1. यदि सम्पूर्णभूखण्डस्य दक्षिणदिशि भवननिर्माणं क्रियते चेत् तस्य एकशालभवनस्य संज्ञा **हस्तिनी** भवति । शास्त्रीयदृष्ट्या इयं शाला उत्तमा मन्यते ।
2. भवननिर्माणं यदि भूखण्डस्य पश्चिमदिशि क्रियते तर्हि तत् **महिषीसंज्ञकं** एकशालभवनं कथ्यते।
3. भूखण्डस्योत्तरदिशि यदि निर्माणं क्रियते तर्हि तत् भवनं **गावीसंज्ञकं** भवति ।
4. सम्पूर्णभूखण्डस्य पूर्वदिशि यदि भवनं निर्मीयते तर्हि तस्य संज्ञा **छागी** इति भवति।



अनेनप्रकारेण एकशालभवनस्य मुख्यरूपेण चत्वारः भेदाः सन्ति । शास्त्रीयग्रन्थेष्वेतस्य अन्यानामष्टाधिकशतानां भेदानामपि वर्णनमुपलभ्यते। तेऽधोलिखिताः सन्ति ।

1 बृहद्वास्तुमाला, मिश्रप्रकरणम् श्लो.सं.-5

2 बृहत्-संहिता, आचार्य हिरण्यनाभ का मत

3 वास्तुसार,पृ,-226

ध्रुवादिषोडशभेदाः[1]	**16**
रम्यादिविशिष्टाः अष्टभेदाः[2]	**8**
षड्दार्वाधारेषोडशभेदाः[3]	**16**
तिर्यक् षड्दार्वाधारेषोडशभेदाः[4]	**16**
शालायाः मध्ये तिर्यक् षड्दार्वाधारेषोडशभेदाः[5]	**16**
चतुर्दिकालिन्दाधारे षोडशभेदाः[6]	**16**
शालायाः अन्ते षड्दार्वाधारे षोडशभेदाः[7]	**16**

एवमेकशालभवनस्य 104 अन्यभेदा अपि शास्त्रीयग्रन्थेषु प्राप्यन्ते । एतेषामपि भेदानां शुभाशुभफलं वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वर्णितम् । वास्तुशास्त्रानुसारं हस्तिनीसंज्ञकं महिषीसंज्ञकञ्च एकशालभवनं निवासाय सुखप्रदं मन्यते । वर्तमानसन्दर्भे आधुनिकदृष्ट्या पश्यामश्चेत् येषु आवासीयस्थलेषु भवनानामाकृतिः आङ्ग्लवर्णमालायाः (I) आई इति वर्णसदृशी भवति ते सर्वे एकशालभवनस्य श्रेण्यां परिगणयन्ते।

द्विशालभवनम् - यथा नाम्नैव ज्ञायते द्विशालभवनमर्थात् यस्मिन् भूखण्डे कयोश्चित् द्वयोः दिशोः निर्माणं क्रियते, तन्निर्माणं द्विशालभवनस्य श्रेण्यां परिगण्यते । मुख्यतः द्विशालभवनस्य षड्भेदाः भवन्ति । वास्तुशास्त्रे अस्यान्ये द्विपञ्चाशत्प्रभेदा अप्युक्ताः। अस्य वैशिष्ट्यमिदं यत् द्विशालभवनस्य निर्माणं कयोश्चित् द्वयोः एकशालभवनयोः संयोगेनापि कर्तुं शक्यते । द्वयोः शालयोः निर्माणकारणत एव एतद् द्विशालभवनं कथ्यते । अस्य द्विशालभवनस्य मुख्यभेदाः निम्नलिखिताःसन्ति ।[8]

1. यत्र हस्तिनिमहिष्योश्च शालयोः संयोगो भवति तत् **सिद्धार्थसंज्ञकं** द्विशालभवनं कथ्यते ।
2. यत्र महिषीगाव्योः शालयोश्च संयोगो भवति तत् **यमसूर्यसंज्ञकं** द्विशालभवनं कथ्यते ।
3. यस्मिन् भूखण्डे छागीगाव्योः शालयोश्च संयोगो भवति तद्दण्डसंज्ञकं द्विशालभवनं भवति।
4. छागीहस्तिन्योः शालयोश्च संयोगेन निर्मितं भवनं **वातसंज्ञकं** द्विशालभवनं कथ्यते ।
5. महिषीछाल्गयोः संयोगेन निर्मितं द्विशालभवनं **चुल्लीसंज्ञकं** कथ्यते ।

---

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-6-12

2 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-13-20

3 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-22-23

4 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-25-27

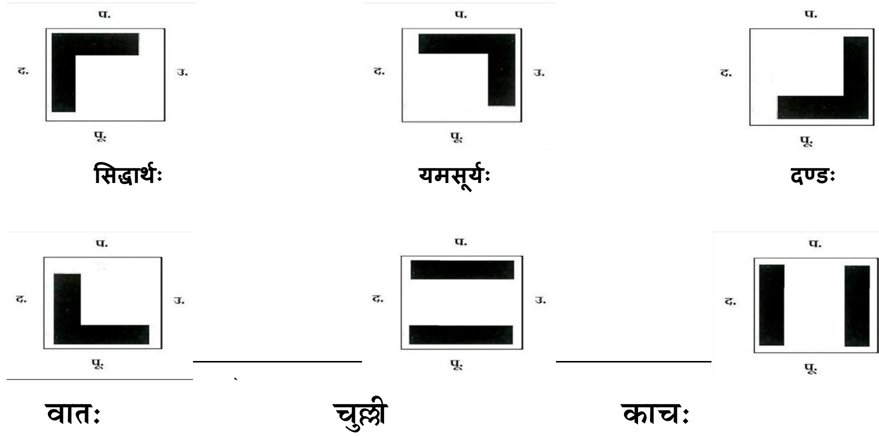
5 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-29-30

6 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-35-37

7 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-23,श्लो.-32-33

8 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-22,श्लो.-2

6. गावीहस्तिन्योः संयोगेन निर्मितं भवनं **काचसंज्ञकं** द्विशालभवनं कथ्यते ।



अनेन प्रकारेण द्विशालभवनस्य मुख्यरूपेण षड्भेदास्सन्ति। शास्त्रीयग्रन्थेष्वस्यान्ये द्विपञ्चाशत्भेदाः वर्णिताः, ये उपर्युक्तानां षण्णामेव प्रभेदास्सन्ति । तेषां विवरणमधोलिखितमस्ति.[1]

1. सिद्धार्थस्य वसुधादय एकादशप्रभेदाः 11
2. यमसूर्यस्य संहारादय एकादशप्रभेदाः 11
3. दण्डस्य प्रचण्डादय एकादशप्रभेदाः 11
4. वातस्यापि मरुतादय एकादशप्रभेदाः 11
5. चुल्ल्याः रोगादयश्चत्वारो भेदाः 4
6. काचस्यापि छलादयश्चत्वारः प्रभेदाः 4

अनेन प्रकारेण द्विशालभवनानामाहत्य द्विपञ्चाशत्प्रभेदाः वर्तन्ते । आङ्लवर्णमालायाः एल (L) इत्याकृत्यां निर्मितानि भवनान्यपि द्विशालभवनस्य श्रेण्यां परिगण्यन्ते । एतेषु सिद्धार्थसंज्ञकं भवनमेव प्रशस्तं मन्यते, यस्मिन् दक्षिणपश्चिमदिशोः निर्माणं क्रियते ।

त्रिशालभवनम्- यस्मिन् भवने तिसृषु दिक्षु शालायाः निर्माणं क्रियते, तस्य संज्ञा त्रिशालभवनमिति भवति । वास्तुशास्त्रस्य विभिन्नेषु ग्रन्थेषु त्रिशालभवनानां वर्णनमुपलभ्यते । त्रिशालभवनस्य मुख्यतया चत्वारो भेदाः विद्यन्ते[2] । हिरण्यनाभः, सुक्षेत्रं, विशालः (चुल्ली), पक्षघ्नः। प्रत्येकस्यास्याष्टादशप्रभेदाऽपि वर्णिताः । अनेन प्रकारेण त्रिशालभवनानां आहत्य द्विसप्ततिप्रभेदाः भवन्ति ।

1. हिरण्यनाभः – यस्मिन् भूखण्डे उत्तरदिशमतिरिच्य पूर्वदक्षिणपश्चिमदिक्षु शालानिर्माणं क्रियते, तस्य संज्ञा हिरण्यनाभसंज्ञकत्रिशालभवनं भवति । भवनमिदमत्यन्तं शुभफलप्रदं गृहपतये धनप्रदायकञ्च मन्यते।

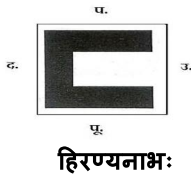
1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-22,श्लो.-22-52

2 मत्स्य पुराण,अ.-254 श्लोक 4-7/ समराङ्गणसूत्रधार, अ.-21,श्लो.-2

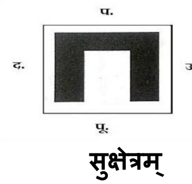
2. सुक्षेत्रम् – यस्मिन् भूखण्डे पूर्वदिशि शालारहितं निर्माणं क्रियते तत् सुक्षेत्रसंज्ञकं त्रिशालभवनं कथ्यते । त्रिशालभवनमिदमपि शुभप्रदं गृहपतये वृद्धिदायकञ्च मन्यते ।

3. विशालः (चुल्ली) – दक्षिणदिशं विहाय अन्यासु तिसृषु दिक्षु निर्माणं क्रियते चेत् तत् भवनं विशालसंज्ञकं त्रिशालभवनं भवति। निर्माणमिदं गृहपतेः धनार्थयोः कृते हानिकारकं मन्यते ।

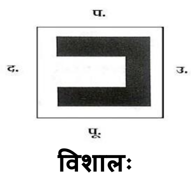
4. पक्षघ्नः – यस्मिन् भूखण्डे उत्तर–पूर्व–दक्षिणदिक्षु च निर्माणं क्रियते तन्निर्माणं पक्षघ्नः चुल्लीसंज्ञकं वा कथ्यते । एतन्निर्माणं गृहपतये विनाशकारकं वैरप्रदायकञ्च मन्यते ।



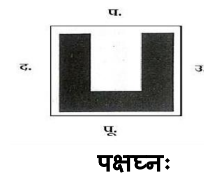
हिरण्यनाभः



सुक्षेत्रम्



विशालः



पक्षघ्नः

प्रकारेणानेन त्रिशालभवनस्य मुख्यरूपेण इमे चत्वारो भेदास्सन्ति । शास्त्रीयग्रन्थेष्वेतस्य द्विसप्ततिभेदानां वर्णनमुपलभ्यते । ते भेदा अधोलिखितास्सन्ति ।[1]

1. हिरण्यनाभस्य जाम्बनदाद्याष्टादशप्रभेदाः 18
2. सुक्षेत्रस्य नागसूर्यप्रभवाद्याष्टादशप्रभेदाः 18
3. चुल्ल्याः भुजङ्गाद्याष्टादशप्रभेदाः 18
4. पक्षघ्नस्य राक्षसाद्याष्टादशप्रभेदाः 18

चतुश्शालभवनम्. यस्मिन् भूखण्डे चतुर्दिक्षु शालानां निर्माणं क्रियते तन्निर्माणं चतुश्शालभवनं कथ्यते । एतेषां चतुश्शालभवनानामपि पञ्चभेदाः निर्दिष्टाः। एतेषां भेदानामाधार आलिन्दद्वारयोश्च विभागो भवति । ततः परम् अलिन्द-वीथि-गवाक्षमूषाणामाधारेण चतुश्शालभवनस्य अन्ये षड्पञ्चाशतोत्तरद्विशतं भेदा अपि जायन्ते । एतेषु केचन प्रशस्ताः केचनाप्रशस्ता अपि कथिताः, प्रथमपञ्चभेदानां संज्ञा इत्थं वर्तते – **सर्वतोभद्रः वर्धमानः नन्द्यावर्तः रुचकः स्वस्तिकश्च**[2] ।

---

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.–21,श्लो.–19–47

2 समराङ्गणसूत्रधार, अ.–19,श्लो.–3

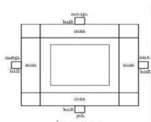
1. **सर्वतोभद्रः** – यस्मिन् भूखण्डे चतुर्दिक्षु शालानां द्वाराणां आलिन्दानां च निर्माणं क्रियते, तन्निर्माणं सर्वतोभद्रसंज्ञकं चतुश्शालं कथ्यते । निर्माणमिदं नृपेभ्यः देवेभ्यश्च प्रशस्तं मन्यते ।

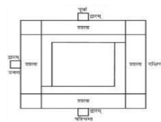
2. **वर्धमानः** – यस्मिन् चतुश्शालभवने पश्चिम-उत्तर-पूर्वदिक्षु द्वारस्य निर्माणं क्रियते परञ्च दक्षिणदिशि द्वाररहितं निर्माणं क्रियते तन्निर्माणं वर्धमानसंज्ञकं चतुश्शालभवनं कथ्यते । भवनमिदं सर्वेभ्यो वर्णेभ्यः वृद्धिकारको मन्यते ।

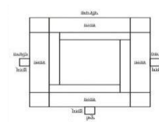
3. **नन्द्यावर्तः** – यस्मिन् भूखण्डे पश्चिमदिशं विहाय पूर्वोत्तरदक्षिणदिक्षु द्वारस्य निर्माणं क्रियते एवञ्च भवनस्याभ्यन्तरभागे चतुर्दिक्षु प्रदक्षिणाक्रमेण अलिन्दानां निर्माणं क्रियते । तादृशं भवनं नन्द्यावर्तसंज्ञकं चतुश्शालभवनं कथ्यते । भवनमिदं सुखं सन्ततिं स्वास्थ्यञ्च प्रददाति ।

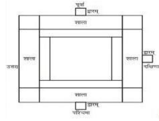
4. **रुचकः** – यस्मिन् चतुश्शालभवने उत्तरदिशं विहाय पूर्व-दक्षिण-पश्चिमदिक्षु द्वारनिर्माणं क्रियते अथ च पूर्वपश्चिमयोः विशेषरूपेण अलिन्दानां निर्माणं क्रियते तन्निर्माणं रुचकसंज्ञकं चतुश्शालभवनं अभिधीयते ।

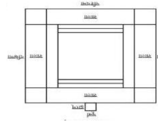
5. **स्वस्तिकः** – यस्मिन् चतुश्शालभवने पूर्वस्यां दिशि केवलं एकस्येव द्वारस्य निर्माणं क्रियते पूर्वपश्चिमयोश्च दिशोः द्वयोर्द्वयोरालिन्दयोः निर्माणं क्रियते तत्भवनं स्वस्तिकसंज्ञकं चतुश्शालभवनं कथ्यते । निर्माणमिदमपि शुभफलप्रदं मन्यते ।


सर्वतोभद्रः


वर्धमानः


नन्द्यावर्तः


रुचकः


स्वस्तिकः

इत्थमित्यस्य चतुश्शालभवनस्य पञ्चभेदास्सन्ति । एतेषां निर्माणं विशाले भूखण्ड एव सम्भवति । इमानि भवनानि नृपेभ्य एव प्रशस्तानि कथितानि । एतस्य कारणमिदं यदेतेषां निर्माणं अत्यन्तं विस्तृतं भवति अतः एतादृशानां भवनानां निर्माणाय विशालभूखण्डस्यावश्यकता भवति । एतादृशानि भूखण्डानि पुराकाले राज्ञां सकाश एव भवन्ति स्म । अतः एतादृशानां भवनानां निर्माणसामर्थ्यं तु राज्ञामेव न तु सामान्यानाम् । एतस्याहत्य षड्पञ्चाशतोत्तरद्विशतं भेदाः ग्रन्थेषु

समुल्लिखितास्सन्ति ।[1]

अनेन प्रकारेण एकशालभवनादारभ्य चतुश्शालभवनानां निर्माणस्य सिद्धान्ता: वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु प्राप्यन्ते । एवमेव पञ्चशालभवनादारभ्य दशशालभवनानां निर्माणसिद्धान्ता अपि प्राप्यन्ते । वस्तुत: विशेषेण पूर्वोक्ताणां चतुश्शालभवनानां निर्माणपद्धते: अवगमनेन विविधशालभवनानां निर्माणविधिरपि ज्ञायते ।

पञ्चशालभवनम्

1. एकशालचतुश्शालभवनयो: संयोगेन पञ्चशालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+4 = 5)

2. द्विशालत्रिशालभवनयो: परस्परसंयोगेनापि पञ्चशालभवनस्य निर्माणं भवति । (2+3 = 5)

3. एकशालभवनस्य द्वयो: द्विशालभवनयोश्च संयोगेनापि पञ्चशालभवनस्य निर्माणं भवति। (1+2+2 = 5)

षड्शालभवनम्

1. एकशाल-द्विशाल-त्रिशालभवनानां संयोगेन षड्शालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+2+3 = 6)

2. द्वयो: त्रिशालभवनयो: संयोगेनापि षड्शालभवनस्य निर्माणं भवति । (3+3 = 6)

3. द्विशालचतुश्शालभवनयो: संयोगेनापि षड्शालभवनस्य निर्माणं भवति । (2+4 = 6)

सप्तशालभवनम्

1. द्वयो: त्रिशालभवनयो: एकस्यैकशालभवनस्य च संयोगेन सप्तशालभवनस्य निर्माणं भवति । (3+3+1 = 7)

2. एकशाल-द्विशाल-चतुश्शालानाञ्च संयोगेन सप्तशालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+2+4 = 7)

अष्टशालभवनम्

1. द्विचतुश्शालभवनयो: संयोगेन अष्टशालभवनस्य निर्माणं भवति । (4+4 = 8)

2. द्वयो: त्रिशालभवनयो: एकस्य द्विशालभवनस्य च संयोगेन अष्टशालभवनस्य निर्माणं भवति । (3+3+2= 8)

3. एकशाल-द्विशाल-त्रिशालभवनानां संयोगो यदा द्विशालभवनेन सह भवति, तदाप्यष्टशालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+2+3+2 = 8)

नवशालभवनम्

1. एकस्यैकशालभवनस्य द्विचतुश्शालभवनयोश्च संयोगेन नवशालभवनस्य निर्माणं भवति। (1+4+4 = 9)

2. त्रयाणां त्रिशालभवनानां संयोगेनापि नवशालभवनस्य निर्माणं भवति । (1+4+4 = 9)

---

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-19,श्लो.-42-70

दशशालभवनम्

1. एकस्य द्विशालभवनस्य द्विचतुश्शालभवनयोश्च संयोगेन दशशालभवनस्य निर्माणं भवति। (2+4+4 = 10)

2. एकस्येकशालभवनस्य त्रयाणां त्रिशालभवनानाञ्च संयोगेन दशशालभवनस्य निर्माणं भवति। (1+3+3+3 = 10)

3. एकस्य चतुश्शालभवनस्य द्वाभ्यां त्रिशालभवनाभ्यां यदा संयोगो भवति, तदा एकस्य दशशालभवनस्य निर्माणं जायते । (4+3+3 = 10)

समराङ्गणसूत्रधारे एकशालाभवनादारभ्य दशशालभवनपर्यन्तं भवनानां भेदाः स्पष्टीकृताः सन्ति । भेददृष्ट्या तेषां भवनानां परिगणनमेवं कर्तुं शक्यते ।

1. **एकशालभवनम्** – 108
2. **द्विशालभवनम्** – 52
3. **त्रिशालभवनम्** – 72
4. **चतुश्शालभवनम्** – 256
5. **पञ्चशालभवनम्**[1] – 1025
6. **षड्शालभवनम्**[2] – 4096
7. **सप्तशालभवनम्**[3] – 16,384
8. **अष्टशालभवनम्**[4] – 65,536
9. **नवशालभवनम्**[5] – 2,62,144
10. **दशशालभवनम्** – 10,48,576

वैज्ञानिकं दृष्टिकोणम् :

विविधशालाभवनानां वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्ता अत्र वर्णिताः । अनेन ज्ञायते यत् दक्षिणदिशि पश्चिमदिशि च निर्मितं गेहमेव प्रशस्तं मन्यते । दक्षिणपश्चिमदिशौ निर्माणाय प्रशस्ते कथिते । वास्तुशास्त्रे ये के च निर्माणसिद्धान्ताः प्राप्यन्ते वस्तुतः तेषां सिद्धान्तानां वास्तविकता भौतिक-विज्ञानस्य (फिजिक्स) त्रितयैः सिद्धान्तैः ज्ञायते । ते च-

1. चुम्बकीयशक्तेः सिद्धान्तः ।
2. गुरुत्वाकर्षणशक्तेः सिद्धान्तः ।
3. सौरशक्तेश्च सिद्धान्तः ।

चुम्बकीयशक्तेः सिद्धान्तः -

चुम्बकीयशक्तिः भौतिकविज्ञाने द्विधा प्रतिपादिता । एका पृथ्व्याः चुम्बकीयशक्तिः

1 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-1-24

2 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-25-49

3 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-50-91

4 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-101-116

5 समराङ्गणसूत्रधार, अ.-25,श्लो.-121-135

द्वितीया चुम्बकीया शक्तिः । अस्याः चुम्बकीयशक्तेः प्रयोगः विद्युतधारायां क्रियते । शास्त्रमिदं भूमिसम्बद्धं शास्त्रं वर्तते अतो भूमेः चुम्बकीयशक्तिमेवात्र प्रस्तूयते ।

आरम्भिकानां वैज्ञानिकानां चिन्तनमासीत् यत् पृथ्व्यामत्यन्तं बृहत्चुम्बको वर्तते, यस्य चुम्बकस्य प्रभावः सर्वत्र दृश्यते । आधुनिकेन विज्ञानेन स्पष्टीक्रियते यत् पृथ्व्याः चुम्बकीयं क्षेत्रं पृथ्व्यां विद्यमानस्य तरलभूतस्य अयस्कस्य संवाहकगतेः कारणेन उद्भूतेन विद्युतधारारूपेण प्रस्फुटितं भवति ।

(The magnetic field is now thought to arise due to electrical currents produced by convective motion of metallic fluids in the outer core of the earth)[1] पृथ्व्या उत्तरीयः चुम्बकीयो ध्रुवो वर्तमाने 79.74' उत्तरीये अक्षांशे एवं 71.8' दक्षिणीये देशान्तरे स्थितो वर्तते । एवञ्च दक्षिणीयध्रुवः 79.74' दक्षिणीये अक्षांशे 108.22' पूर्वीये देशान्तरे वर्तते । एतयोः ध्रुवयोः विषये आरम्भत एव जनेषु भ्रम आसीत् । वस्तुतः पृथ्व्याः द्वौ भौगोलीयध्रुवौ द्वौ चुम्बकीयध्रुवौ च वर्तेते । अस्याः उत्तरीयश्चुम्बकीयो ध्रुवो दक्षिणीभौगोलीयस्य ध्रुवस्य पार्श्वे अवस्थितं वर्तते अथ च दक्षिणचुम्बकीयो ध्रुवः उत्तरीभौगोलीयस्य ध्रुवस्य पार्श्वे विद्यते । पृथ्व्याः चुम्बकीयकिरणा उत्तरीय चुम्बकीयध्रुवात् दक्षिणीयध्रुवं प्रति प्रवहन्ति ।

वस्तुतः सिद्धमिदं वैज्ञानिकदृष्ट्या यत् उत्तरीये भौगोलीये ध्रुवे जैविकगुणानां भण्डारो वर्तते। अत एतत् संक्रमणं न्यूनमेवं नियन्त्रितयितुञ्च शक्यते । एवञ्च दक्षिणिध्रुवः एताः क्रियाः अधिकं वर्धयति ।[2]

अनेन ज्ञायते यत् उत्तरदिशं पूर्णतया निर्माणरहितं स्थाप्यते चेत् मानवस्य कृते निश्चयेन लाभ–करमस्ति । अत एव भारतीयमहर्षिभिः उत्तरीशानञ्च अधिकं स्वच्छं, भाररहितं सौन्दर्यपूर्णञ्च भवेत् इत्यभिहितम् । मानवजीवनं यापयितुं प्राणवायो आवश्यकता भवति तच्च मानवो मुखेन स्वीकरोति तथैव भूमावपि प्राणवायोः स्रोत ईशानादारभ्य आग्नेये वायव्ये च भूत्वा नैऋत्यं प्रति गच्छति ।

गुरुत्वाकर्षणशक्तिः –

शक्तिरियं पृथ्व्याः प्रधाना शक्तिर्वर्तते । एतया शक्त्या एव सर्वाणि वस्तूनि पृथिव्यां स्थिराणि भवन्ति । वैज्ञानिकदृष्ट्या विलोकयामश्चेत् गुरुत्वाकर्षणं एकपदार्थस्य अपरपदार्थं प्रति आकर्षणस्य प्रवृत्तिरस्ति । अस्य आकर्षणस्य कारणं या शक्तिरस्ति तस्याः संज्ञा गुरुत्वशक्तिः वर्तते । आधुनिकानां मतमिदं यदस्य सिद्धान्तस्य प्रतिष्ठापको वैज्ञानिक आइजक न्यूटनवर्यो वर्तते । तत्पूर्वं गैलीलियो गैलिलीमहोदयः अस्य सिद्धान्तस्य ज्ञाता मन्यते ।[3] परञ्च वास्तविकं ऐतिह्यं तु सर्वथा भिन्नमेव यत् एतयोः विदुषोः पूर्वमेव आचार्येण वराहमिहिरेण भास्कराचार्येण च सिद्धान्तोऽयं प्रतिष्ठापितः। एतस्य प्रमाणं एतयोः विदुषोः विलिखितेषु ग्रन्थेषु प्राप्यते । अनेन ज्ञायते यत्

---

1 Ncert class 12th, chapter-5, the earth's magnetism

2 रहस्यावरण से मुक्ति, अश्विनी कुमार, अ.-2,पृ.-28

3 Newton's law of universal gravitation Wikipedia.org

एतत्विषयकं ज्ञानमादिकालात् भारते आसीत् । अस्य ज्ञानस्य प्रयोगः वास्तुविद्यायामपि क्रियते स्म ।

वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु अस्याः गुरुत्वशक्तेः प्रतिपादनं **"शैले अनन्तं फलं गृहे"**[1] इत्यस्मिन् सिद्धान्ते कृतं येनानुसारेण पाषाणनिर्मितगेहस्य अनन्तफलं कथितम् । वस्तुतः तृण.मृदा.दारुभिः निर्मित्भवनानामपेक्षया पाषाणनिर्मितं गेहं सुदृढ़ं भवति यतोहि सिद्धान्तोऽयं गुरुत्वशक्तेः वर्तते यत् पदार्थं यावदधिकद्रव्यमानस्य भवति तत्पदार्थं तावत् शीघ्रं स्थिरं च भूमौ तिष्ठति । पञ्चतत्त्वस्याधारेण पश्यामश्चेत् नैर्ऋत्यकोणे पृथ्वितत्त्वस्य प्रधानता भवति । अत एव दक्षिणे पश्चिमे च भवन-निर्माणमधिकं स्थिरं सुरक्षितं च भविष्यति । विविधशालयुक्तभवनेष्वपि दक्षिणे पश्चिमे च दिशि निर्माणं प्रशस्तमुदीरितम्।

सौरशक्तिः

सौरशक्तेः तात्पर्यं सूर्यस्य किरणैः प्राप्यमाणाः तेजसः शक्तिः, यस्याः प्रभावेण मानव आत्मनि स्फूर्तिः गतिशीलतायाश्चानुभवं करोति, वास्तुशास्त्रानुसारं सूर्यस्य पराबैंगनी इति किरणविशेषानां प्रभावः स्वीक्रियते । एतेषां किरणानां लाभः मानवः सर्वदा आप्नुयात् अत एव वास्तौ पूर्वोत्तर्दिशौ निर्माणरहितं रिक्तं वा वायुबाधारहितं, गवाक्षयुतं च निर्माणार्थं प्रेरयति । येन सूर्यस्य प्रकाशः, ऊष्मा, तापयुक्तऊर्जश्च मानवः आधिक्येन लाभः प्राप्नुयात् । सूर्यस्य किरणानां विभाजनं त्रिधा शक्यते ।

पराबैंगनी इति किरणाः वर्णक्रमप्रकाशः रक्ताभ किरणाश्च ।

पराबैंगनी इति किरणाः प्रामुख्येन सूर्यात् प्राप्यन्ते। अद्यत्वे एतदर्थं कानिचन् अन्योपकरणानि अपि उपलभ्यन्ते । ते किरणाः लाभकारकाः हानिकारकाः च तेन बेसल सेल कार्सिनोमाध स्क्वैमस सेल कार्सिनोमाध मेलनोमा इति त्वचा कैंसर इति रोगस्य सम्भावनाः वर्धन्ते । तेषां मुख्यहेतुः पराबैंगनी इति किरणा एव । परञ्च एते किरणाः शरीरे विटामिन डी" निर्माणार्थं सहायकाः भवन्ति । सोरायसिस (psoriasis) इति त्वग्रोगं समापयति । पीनियल ग्रन्थि (pineal gland) उग्रं करोति ट्राइप्टामाइन्स इति भावं परिवर्तनस्य रसायनस्य प्रसारणं करोति। प्राणिभ्यः द्रष्टुं साहाय्यं करोति अथ च पृथिव्यां उत्पद्यमानानां विषाणून् नाशयति।[2] कस्यापि वस्तुनः अत्यधिकं सेवनं तु कष्टकारकमेव इति सर्वविदितः। एतदर्थमेव अस्मत्पूर्वजैः ऋषिमुनिभिश्च पूर्वस्यां दिशि निर्माणरहितं कर्तुं प्रेरितवन्तः येन शारीरिकलाभः स्यात्।

वर्णक्रमप्रकाशः इन्द्रधनुषः सम्बद्धे वर्तते । यस्मिन् सप्तवर्णानां समावेशो भवति । एते वर्णाः परस्परं तथा संलग्नं भवन्ति यत् एतेषां योगः कुत्र इति सहजतया ज्ञातुं न शक्यते । प्राविधिकभाषायां एतदेव संतात्यकधसंतात्य (continuum/continuous) कथ्यते। रक्ताभकिरणाः सर्वाधिकं ऊष्णयुक्ताः भवन्ति ते च मध्याह्नं पश्चात् अनुभवन्ति। एते आधिक्येन हानिप्रदाः भवन्ति।

इत्थं वैज्ञानिककारणैः सिद्धयति यत् वास्तुशास्त्रे भवननिर्माणस्य शालविधानस्य यत् वर्णनं

---

1 बृहद-वास्तुमाला,पृ.-2,श्लोक-5

2 Dr. Ayush pandey, MBBS, Ultraviolet rays uses, benefits and precautions. Myupchar.com

विहितमथ च यान् नियमान् भवननिर्माणे सुखप्रदं लाभप्रदं च निर्देशितं तत्सर्वमपि निश्चयेन आधुनिकवैज्ञानिकदृष्ट्या अपि पूर्णतया सम्यगेव । अतः वास्तुशास्त्रे वर्णितानां शालभवननिर्माणस्य नियमानामनुपालनं कृत्वा विविधानां प्राकृतिकशक्तीनां मानवस्य कृते लाभो भवितुं शक्यते ।

व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या वास्तुशब्दावलिविचारः

डॉ. अखिलेश कुमार द्विवेदी

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥[1]

इत्यभियुक्त्यनुसारं शक्तिग्रहं व्याकरणादिशक्तिग्राहकैर्भवतीति निर्विवादो विषयः। तथाप्यभिधानं तु पदार्थं कुक्षौ कृत्वा जगति प्रथते। नामार्थयोःसम्बन्धःतादात्म्यमेव शाब्दिकानां निकाये सिद्धम्, अनुभवगतार्थोऽपि लोके - **रामेतिद्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः**[2] रामस्य पदपदार्थयोः साङ्कर्यं विद्यते। एवं हि वास्तुशास्त्रेऽपि शाला-नगर- स्थानानां नामानि उच्चार्य तत्तत्फलदल-चिन्तनं महासौक्ष्म्येन विवेचितं ग्रन्थकारैः। यथा राजधानीमाश्रित्य सूच्यबिद्धं लक्षणम्-

राष्ट्रस्य मध्यभागे सज्जनबहुले नदी समीपे च।
नगरं केवलमथवा राजगृहोपेतं राजधानी वा॥[3]

साम्प्रतं देहल्यादिराजधानी तथैव सङ्घटते। अनादिकालतः नामार्थयोर्व्यवहारः वाच्यवाचकावभिलक्ष्य जायते तदिव पौर्वापर्य्यवाचारोऽपि गगनस्य आद्यन्त इव व्यर्थगवेषणा-विषयः। वास्तुशास्त्रकारः पदार्थं मनसि कृत्वा यच्छब्दमाह तस्य व्याकरणकोशानुसारं कः प्राथम्यार्थःउपतिष्ठते ? इति शोधनिबन्धेऽस्मिन् विवेचनस्यायासो जायते। यद्यपि विश्वकर्मप्रकाश-बृहत्संहिता-समराङ्गणसूत्रधाराख्यादिषु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु शालानगरादीनां बहूनि नामानि निर्दिष्टानि तथापि अत्र प्रमुखानि प्रसिद्धानि अभिधानानि स्वीकृत्य व्युत्पत्तिलभ्यार्थस्य विवेचनं क्रियते।

वास्तु -

वसन्ति प्राणिनो यत्र इत्यस्मिन्विग्रहे **वस् निवासे**[4] धातोः **वसेरगारे णिच्च**[5] **इत्यौणादिकेन** सूत्रेण तुण् कृते सति वास्तुपदं सिद्ध्यति। वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्[6] गृहरचनावच्छिन्नाधारभूमिरित्यर्थः

1. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्डः
2. परमलघुमञ्जूषा, शक्तिप्रकरणम्
3. मयमतम् 10/19
4. धातुपाठः 1/50
5. उणादिकोशः1/70
6. अमरकोशः 2/2/19

तस्य विज्ञानं शास्त्रं वा वास्तुविज्ञानपदेनोच्यते। कानिचन पदानि अस्माकं श्रुतिगोचराणि भवन्ति यस्य सम्बन्धः वास्तोर्भवति तद्यथा – भवनम् आलयः मन्दिरं हर्म्यम् इत्यादीनि, एतेषां विवेचनं व्याकरणशास्त्रदृष्ट्या प्रकृतिप्रत्ययपुरस्सरं क्रियते, अधुना प्रयुञ्जानां पदानामर्थः शास्त्रीयैःपदैः सह वर्तते न वेत्यादिकं चिन्तनं यथाप्राप्तं क्रियते। प्रवृत्तिनिमित्तार्थस्यानन्तरं तत्तच्छास्त्रकाराः यथार्थं चिन्तयन्ति। तत्र लक्षणं द्विविधं स्वरूपलक्षणं तटस्थलक्षणञ्च। आद्यं स्वरूपान्तर्गते सति व्यावर्तकम्, कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकत्त्वं द्वितीयम्। द्वयोर्लक्षणयोः कृते व्युत्पत्तिरावश्यकी। शब्दमहिमैव विद्यते यत् क्वचित् मृगशब्दः हरिणशक्तः क्वचिच्च पशुवाचकः, प्रत्यासत्या प्रकरणानुसारं वर्णनं निर्णायकत्वेनोपतिष्ठन्ते। सर्वे **शब्दाः धातुजमाह**[1] इति सिद्धान्तेन पदविवेचनैव जायते। अत्र भर्तृहरिरप्याह –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥[2]

वास्तुसम्बन्धिपदानां विवरणं क्रमशः प्रस्तूयते –

भवनम् – भवन्ति अस्मिन्निति जनाः इति विग्रहे भू धातोरधिकरणे ल्युट्प्रत्यये सति गृहपर्याया भवनसञ्ज्ञा –

निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम् ।
गृहाः पुंसि च भूम्नेव निकाय्यनिलयालयाः॥[3]

प्रासादः – प्रसीदन्ति अस्मिन्निति जनाः प्र इत्युपसर्गकस्य **षद्लृ**[4] विशरण-गत्यवसादनार्थक-धातोरधिकरणे घञ्प्रत्यये सति पुंसि प्रासादपदं देवानां राज्ञाञ्च गृहस्य वाचकं **प्रासादो देवभूभुजाम्**[5], उदाहरणम् – प्रासादगिरिशिखरोऽपि काकः किङ्गरुडायते।

मन्दिरम् – लोके मन्दिरपदं देवालयस्यैव कृते रूढं जातम्।

हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा[6]

तथा च – **मन्दिर मन्दिर प्रति कर सोधा**[7]

मन्द्यते सुप्यते यत्र अथवा मन्द्यते स्तूयते यत्र इति विग्रहे **मदि**[8] **स्वप्नस्तुत्यर्थकधातोः औणादिककिरच्प्रत्यये** सति क्लीबे मन्दिरमिति पदं निष्पद्यते। कोशे –

---

1. निरुक्तं यास्कः
2. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्ड:01/131
3. अमरकोश:2/2/9
4. धातुपाठः ,1/854
5. अमरकोश:2/2/9
6. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, दोहा/8
7. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड दोहा/5
8. धातुपाठः 10/1189

निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम् ।
गृहाः पुंसि च भूम्नेव निकाय्यनिलयालयाः॥[1]

तथा च - **निशान्तं सदनं वस्त्यमागारं मन्दिरं पुरम्।**

अस्योदाहरणम् - विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्, भवत्युपश्रुत्य यदृक्षयापि यम्।[2] इति बहुश्रुतानि पदानि वर्णितानि। वासस्थानं देवालयस्य, नगरस्य, ग्रामस्य, गृहस्य च भवति अतः देवालयवास्तु-नगरवास्तु-ग्रामवास्तु-गृहवास्तु इत्यदिकानां स्वरूपाणि ग्रन्थेषु प्राप्यन्ते। वराहमिहिरस्य बृहत्संहितायां वास्तुविद्याध्याये कानिचन नामानि उल्लिखितानि -

सर्वतोभद्रम् - पुंसि क्लीबे च, सर्वतो भद्राणि मुखानि यस्य सः इति बहुब्रीहिसमासस्य विग्रहे सर्वतोभद्रम्(द्रः) सिद्ध्यति। नाम्नैव कल्याणप्रदं प्रतीयते। अस्यैवार्थं समर्थयन् अयं श्लोकः-

अप्रतिषिद्धालिन्दं समन्ततो वास्तु सर्वतोभद्रम्।
नृपविबुधसमूहानां कार्यं द्वारैश्चतुर्भिरपि॥[3]

नन्द्यावर्तम् - पुंसि क्लीबे च, नन्दयतीति नन्दी इत्यस्ति विग्रहे आनन्दप्रदः कश्चिद् आलयः आवर्तकयुक्तः प्रतीयते। वाराहमिहिरोऽपि लक्षयति -

नन्द्यावर्त्तमालिन्दैः शालाकुड्यात्प्रदक्षिणान्तर्गतैः।
द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कार्याणि॥[4]

वर्धमानम् - क्लीबे, वर्धते समेधते समृद्धिरित्यर्थः **वृधु** वर्धने[5] धातोः कर्तरि शानच् प्रत्यये सति इदं पदं भवनवाचकं वास्तुशास्त्रे प्रसिद्धम् -

द्वारालिन्दान्तगतः प्रदक्षिणोऽन्यः शुभस्ततश्चान्यः।
तस्मिँश्च वर्धमाने द्वारं तु न दक्षिणकार्यम्॥[6]

श्लोकेन ज्ञायते यत् लम्बायमानः कश्चिद्गृहविशेषः यत्र दक्षिणद्वारं न भवति।

स्वस्तिकम् - पुंसि क्लीबे च, स्वस्ति क्षेमं कामती' तिविग्रहे कै शब्दार्थकधातोः क प्रत्यये सति सिद्ध्यति। स्वस्तिको **मङ्गलद्रव्ये चतुष्कगृहभेदयोः**[7] **इति** कोशः। नाम्ना प्रतीयते यत् कल्याणकारकः कश्चन पदार्थविशेषः। अत्र मिहिरो वक्ति -

1. अमरकोशः2/2/9
2. काव्यप्रकाशः, प्रथम उल्लासः 5
3. बृहत्संहिता ,वास्त्वध्यायः 31
4. बृहत्संहिता, वास्त्वध्यायः 32
5. धातुपाठः 1/409
6. बृहत्संहिता, वास्त्वध्यायः 32
7. अमरकोशः रामाश्रमीव्याख्या 2/2/10

अपरोऽन्तगतो प्रागन्तगतौ तदुत्थितौ चान्यौ।
तदवधिविधृतश्चान्यःप्राग्द्वारं स्वस्तिके शुभदम्।[1]।

शालायाः वैविध्यस्य प्रकारविशेषः, शुभदमिति पदं स्वतिकस्य विशेषणम्।

रुचकम् – रोचतेऽस्मिन्निति विग्रहे रुच्यर्थक रुच् धातोः आधारयुक्तः कश्चनपदार्थः अवसीयते। औषधालङ्कारविशेषेऽपि पदमिदं विद्यते, तत्तु करणे प्रत्यये सति सिद्ध्यति। आचार्यमिहिरोऽत्र वदति –

प्राक्पश्चिमावलिन्दावन्तगतौ तदवधिवस्थितौ ।
रुचके द्वारं न शुभदमुत्तरतोऽन्यानि न शस्तानि॥[2]

शास्त्रीयमिति लक्षणं विज्ञापयति यदुत्तरं द्वारं परित्यज्य सर्वं द्वारं शुभदं स्यादित्याशयः। अमरकोशेऽपि विशिष्टगृहविशेषस्यापि परिगणनं कारितम् –

स्वस्तिकःसर्वभद्रो नन्द्यावर्तादयोऽपि च।
विच्छन्दकः प्रभेदा हि भवन्तीश्वरसद्मनाम्॥[3]

यदा औषधस्य विषयः स्यात् तदा तद्विहितं वनस्पतिशास्त्रं स्मर्यते, तथैव वस्तुनोऽनुसारमेव शास्त्रेण शोधनं क्रियते।अतएव अत्रापि विचारणीयमेव । उक्तञ्च श्रीमद्भगवद्गीतायाम् –

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥[4]

स्थापत्यस्य विषये वास्तुशास्त्रस्य अनुशासनं परिपालनीयम्। नगर-निगम-राजधान्यादिविषये वास्तुशास्त्रस्य दृष्टिः प्रेक्षणीया। तद्यथा –

राजधानी – राज्ञां नृपाणां धानी आधारभूमिः **डुधाञ्** धारणपोषणार्थकधातोः अधिकरणे ल्युट् प्रत्यये सति स्त्रीत्वे राजधानी' ति पदं साध्यते। अन्वर्थकं पदमिदम्, समराङ्गणसूत्रधारोऽपि अस्य लक्षणं ब्रूते –

यत्रास्ते नगरे राजा राजधानीं तु तां विदुः।
शाखा-नगरसंज्ञानि ततोऽन्यानि प्रचक्षते॥[5]

निगमः – निगम्यते गतिः क्रियते यत्र इत्यस्मिन्विग्रहे घप्रत्ययेन निगमपदं सिद्ध्यति। यस्यार्थः नगराद् अनुगतः निगमः नगरे भवति। अस्य लक्षणं भोजदेवानुसारम् – **ऊनं कर्वटमेवेह**

---

1. बृहत्संहिता, वास्त्वध्यायः 34
2. बृहत्संहिता, वास्त्वध्यायः 35
3. अमरकोश:2/2/10
4. श्रीमद्भगवद्गीता 16/24
5. समराङ्गणसूत्रधार:18/02

गुणैर्निगम उच्यते।[1] **अत्र** कोशोऽपि - **स्थानीयं निगमोऽन्यत्तु , यन्मूलनगरात्पुरम्।**[2]

मयमतानुसारम् - **चातुर्वर्ण्यसमेतं सर्वजनवाससङ्कीर्णम्।**
बहुकर्मकारयुक्तं यन्निगमं तत्समुद्दिष्टम्।।[3]

यत्र कर्मकराणां कार्यस्य प्राचुर्यं स्यात् सः निगमः।

ग्रामः - ग्रसते भोजनं क्रियते यत्र सः ग्रामः, कृषिकार्यं ग्रामे भवति, अस्मिन् विग्रहे **ग्रसु अदने** धातोः औणादिक मन् प्रत्यये सति पुंसि ग्रामपदं सिद्ध्यति। समौ **संवसथग्रामौ**[4] इत्यमरकोशः। अस्य लक्षणं भोजेनेत्थं दत्तम् - **ग्रामः स्यान्निगमादूनः।**[5]

स्थालीपुलाकन्यायेन वास्तुशास्त्रे आवासाङ्गत्वेन केचन बहुप्रचलिताःशब्दाः निरूप्यन्ते-

हर्म्यम् - द्वितलस्य ततोऽधिकस्य भवनस्य नाम हर्म्यमिति वास्तुशास्त्रे प्रसिद्धम्-

गृहस्योपरिभूमिर्या हर्म्यं तत् परिकीर्तितम्[6]**।**

हरति मनांसि जनानामिति विग्रहे वाक्ये अघ्नादित्वात् (उणादिपाठः 04/112) यत्प्रत्यये मुडागमे च इति व्युत्पत्तौ सिद्ध्यति।कोशोऽपि समर्थयते - हर्म्यादिधनिनां वासः[7]।

सोपानम् - द्वितीयतलं प्राप्तुं यस्य मार्गस्यानुसरणं क्रियते तत्सोपानपदेनाभिधीयते। उक्तं हि -

तस्यारोहणमार्गो यः सोपानं तत्प्रचक्षते[8]

उपानमुपरिगमनं तेन सह विद्यमानमिति विग्रहे कोशोऽपि प्रमाणयति -

आरोहणं स्यात्सोपानम्[9]

निःश्रेणिः - नियता श्रेणिः पङ्क्तिः यत्रसामासिकविग्रहे कश्चनपङ्क्तिबद्धः पदार्थः सिद्ध्यति। वास्तुशास्त्रदृष्ट्या तु काष्ठैः रचितः उपरि गमनमार्गः विवक्षितः-

काष्ठकैः यत्र रचितं स्थूणयोरधिरोहणम्।
सा निःश्रेणिरिति प्रोक्ता सोपानैर्विपुलैः पदैः।।[10]

---

1. समराङ्गणसूत्रधार:18/03
2. अमरकोश:2/2/01
3. मयमतम्10/34-35
4. अमरकोश:2/2/19
5. समराङ्गणसूत्रधार:18/04
6. समराङ्गणसूत्रधार:18/10
7. अमरकोश:02/02/09
8. समराङ्गणसूत्रधार:18/10
9. अमरकोश:02/02/18
10. समराङ्गणसूत्रधार:18/11

कोशोऽपि – निःश्रेणिस्त्वधिरोहिणी।[1]

काष्ठविटङ्कः – काष्ठानां विटङ्कः परिमण्डनं यत्र विग्रहेण वाक्येन ज्ञायते यत् काष्ठैः आवृतः कश्चन गृहविशेषः, साम्प्रतं काठमाण्डुनगरे जापानदेशे वा एतादृशानि भवनानि सन्ति। अस्य लक्षणम् –

स्मृतः काष्ठविटङ्कोऽसौ यत्काष्ठैः संवृतं गृहम्।[2]

सौधम् – सुधायाः चूर्णस्य लेपोऽस्यास्तीति विग्रहे सुन्दरभित्तियुक्तं गृहम्, अत्र कोशः कथयति–

सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्योपकारिका।[3]

शास्त्रेऽपि अस्य लक्षणमित्थम्–

सुधालिप्ततलं हर्म्यं सौधं स्यात् कुट्टिमं च तत्[4] ।

कस्यचन शुभ्रवर्णस्य विशालबहुतलयुक्तस्य भवनस्य आकृतिरुदेति।

वातायनम् – वातस्य वायोः अयनम्, ईयते गम्यते अनेनेति अयनम् इति विग्रहे पवनस्य आगमनप्रत्यागमनयोः साधनविशेषार्थो गमयति। वातायनं **गवाक्षोऽथ**[5] इत्यमरः अस्य लक्षणम् –

वातायनं तु भित्तीनामवलोकनमुच्यते[6] इति भोजः।

अवलोकनम् उलोकश्च – अव उपसर्गकस्य लोकृ दर्शने इति धातोःकरणे ल्युट्प्रत्यये सति अवलोक्यते अनेनेति विग्रहे प्रेक्षणस्य किञ्चित्साधनं विवक्षितम्। तथैव उ उपसर्गकस्य लोकृ धातोः करणे घञ्प्रत्यये सति उलोकः सिद्ध्यति। एतयोः लौकिकार्थः गवाक्षस्य प्रकारत्त्वेनोपतिष्ठते। अत एव समराङ्गणसूत्रधारे अनयोः लक्षणं विद्यते –

लघुर्वातायनो यः स्यादवलोकनकं हि तत्।
हर्म्यस्य मध्ये यच्छिद्रं स उलोक इति स्मृतः॥[7]

उपर्युक्तलक्षणेन प्रतीयते यत् **झरोखा** इत्यस्य वाचकौ स्याताम्।

निर्यूहः – निरूहति इत्यस्मिन्विग्रहे वस्तुनः काष्ठालम्बनविशेषः कश्चन पदार्थः। अत्र कोशः कथयति–

द्वारापीडे क्वाथरसे निर्यूहः नागदन्तके[8] इत्यमरः।

अत्र भोजः कथयति –

1. अमरकोशः 02/02/18
2. समराङ्गणसूत्रधारः 18/12
3. अमरकोशः 02/02/10
4. समराङ्गणसूत्रधारः 18/13
5. अमरकोशः 02/02/09
6. समराङ्गणसूत्रधारः 18/14
7. समराङ्गणसूत्रधारः 18/16
8. अमरकोशः 03/03/237

निर्यूहो हर्म्यदेशाद्यः काष्ठानामुपनिर्गमः[1]

निर्गमद्वारस्य काष्ठमण्डनस्य अभिधानं विद्यते।

वलीकम् - वलीकशब्दोऽपि निर्यूहपदमिव विद्यते।वलति आवृणोति भित्यादि इति विग्रहे -

वलीकमिति विज्ञेयं काष्ठं छेदाद्विनिर्गतम्।[2]

भित्तौ लग्नस्य यूपस्य संज्ञा।

चतुःशालः, त्रिशालः, द्विशालः, एकशालः - सर्वप्रथमं शाल इति पदं विवेचनीयम्, नाम्ना प्रतीयते यत् शलन्ति प्रविशन्ति यत्र शाला शालो वा शब्दः कक्षस्याभिधायकः। तद्यथा -

वासः कुटीद्वयोः शाला सभा सञ्जवनं त्विदम्।[3]

मुनीनाङ्कृते चतुःशालः भवति-

चतुःशालं मुनीनां तु पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्[4] इति कोशः।

लक्षणानि -

छन्नैश्चतुर्भिः पार्श्वैर्यत् तच्चतुश्शालमुच्यते ।
त्रिभिस्त्रिशालं तत् प्राहुर्द्वाभ्यां तत्स्याद् द्विशालकम्।।[5]

सामान्येन कक्षायाः नामानीमानि।

गृहपर्यायाः-गृहपर्यायाः इमे शब्दाः परिगणिताः - आवासः, सदनम्, सद्म, निकेतः, मन्दिरम्, संस्थानम्, निकेतम्, धिष्ण्यम्, भवनम्, वसतिः, क्षयः, आगारम्, संश्रयम्, नीडम्, गेहम्, शरणम्, आलयः, निलयः, लयनम्, वेश्म, गृहम्, ओकः, प्रतिश्रयः इति त्रयोविंशतिपदानि पर्यायत्वेन सङ्गृहीतानि। इमानि पदानि वासार्थकधातुभ्यः निष्पद्यन्ते । तदित्थं वस्, सद्, कित,स्था, धा, भू, शॄ, श्री, गृ, लीङ् इत्यादिभिःधातुभिःअधिकरणार्थकप्रत्ययैःसह इमे शब्दाः साधवःभवन्ति। एतदेभ्यःअन्यान्यपि वास्तुपदानि स्युःकिन्तु बीजाङ्कुरन्यायेन शब्दग्रामो मया सन्निवेशितः **नामरूपे व्याकुर्वाणि जगदिति** प्रतिपादयता अथर्ववेदेनापि निर्दिष्टं यत् संसारस्य पदमाश्रित्यार्थानुसन्धानं करणीयम्।

निष्कर्षः - विश्वकर्मप्रकाश-समराङ्गणसूत्रधारादिषु ग्रन्थेषु गृहालयहर्म्यादिशब्दाः निश्चयं पर्यायत्वेन परिगणितेष्वपि विशेषार्थमभिदधते इति वास्तुविदः विदन्ति। सम्प्रति समाजेऽपि विशिष्टवाचकपदानां तस्मिन्नेवार्थो व्यवहारो जायेत एवं प्रयत्नः करणीयः। लोकेऽपि वैदेशिकपदेष्वपि आवासपदवाच्यानि बिल्डिंग,फ्लैट,अपार्टमेण्ट,टैर्नामेण्ट पदानि विशिष्टार्थयुक्तानि सन्ति। तथैव अस्मिँञ्छास्त्रेऽपि प्रत्येकं पदं लक्षणभेदेन विलक्षणार्थं प्रतिपादयतीति।

1. समराङ्गणसूत्रधारः18/17
2. समराङ्गणसूत्रधारः18/17
3. अमरकोशः2/02/06
4. अमरकोशः03/03/237
5. समराङ्गणसूत्रधारः18/18

राजवल्लभवास्तुशास्त्रानुसारेण गृहारम्भे मासविचारः

डॉ. प्रवेश व्यास
आचार्य अमित जोशी

वास्तुशास्त्रस्य साहित्यपरम्परायां राजवल्लभवास्तुशास्त्रं विशिष्टतमो ग्रन्थो वर्तते। ग्रन्थोऽयं सूत्रधारमण्डनेन प्रणीतोऽस्ति। सूत्रधारमण्डनः महाराणाकुम्भकर्णाश्रितः राजपण्डित आसीत्। सूत्रधारमण्डनस्य वास्तुशास्त्रीयसाहित्येषु गृहवास्तोः प्रसिद्धतमोऽयं ग्रन्थः। अयं राजवल्लभ-राजवल्लभमण्डन-राजवल्लभशिल्पशास्त्र-वास्तुराजवल्लभ-वास्तुराज-राजवल्लभवास्तु-शास्त्रादिभिः अन्यनामभिरपि प्रसिद्धोऽस्ति[1]। अयं ग्रन्थः न केवलं वास्तुशास्त्रस्यापितु गणितशास्त्रस्य शकुनशास्त्रस्य चापि महत्वपूर्ण-प्रतिपादको वर्तते।

समराङ्गणसूत्रधारे वास्तुशास्त्रस्य अष्टाङ्गानि प्रतिपादितानि सन्ति।[2] तत्र वास्तुशास्त्रस्याष्टाङ्गेषु ज्योतिषमप्येकं महत्वपूर्णमङ्गं वर्तते। ज्योतिषं कालविधानकं शास्त्रमिति प्रसिद्धम्। भारतीय-वास्तुपरम्परायामपि कालस्य महत्वं प्रामुख्येन प्रतिपादितमस्ति। गृहारम्भादारभ्य गृहप्रवेशपर्यन्तं सर्वेषु कार्येषु कालः मुख्यतमो वर्तते। गृहारम्भे सर्वादौ कालस्य विचारः क्रियते तत्र कालशुद्धेः वर्णनं विशदतया ग्रन्थेषु प्राप्यते। बृहद्वास्तुमालायां कालशुद्ध्यर्थं सर्वप्रथमं द्वारशुद्धिं पश्चाच्च भशुद्धिं लग्नशुद्धिं च विशेषरूपेण कुर्याद् इति वर्णनं प्राप्यते[3]। राजवल्लभवास्तुशास्त्रे अपि गृहनिर्माणार्थं उत्तरायणे शुभमासे शुक्लपक्षे चन्द्रबलं शुभदिनं शुभनिमित्तञ्च शास्त्रदृष्ट्या विचिन्त्य कालशुद्धि करणीयेति वर्णितमस्ति यथाः

सिद्ध्यै गृहारम्भमुशन्ति वृद्धा यथोदिते मासि बलक्षपक्षे।
शशाङ्कवीर्ये सुदिने निमित्ते शुभे रवौ सौम्यगते प्रवेशः[4]॥

अतः कालशुद्धिः गृहारम्भे प्रामुख्येन करणीयेति शास्त्रवचनम् अस्ति। गृहारम्भार्थं मासशुद्धिः राजवल्लभवास्तुशास्त्रे विस्तृतरूपेण सूत्रधारमण्डनेन वर्णितास्ति, मासशुद्ध्यर्थं सौरचान्द्रमासयोः चिन्तनं क्रियते। सौरचान्द्रमासस्य विचारः प्रायः सर्वेषु वास्तुशास्त्रस्य मानकग्रन्थेषु प्राप्यते एव। राजवल्लभवास्तुशास्त्रे चैत्रादिचान्द्रमासानां वर्णनं कृतमस्ति। प्रत्येकं

---

1 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् भूमिका पृ.24

2 समराङ्गणसूत्रधारः 8.2

3 द्वारशुद्धिं निरीक्ष्यादौ भशुद्धिं वृषचक्रतः। निष्पञ्चके स्थिरे लग्ने द्व्यङ्गेवालयमारभे॥ बृहद्वास्तुमाला 1.8

4 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.6

मासे गृहारम्भस्य शुभाशुभानि फलानि भवन्ति अत: शास्त्रदृष्ट्या अशुभफलदायकेषु मासेषु गृहारम्भो वर्जितो भवति। यथा चान्द्रमासानां वर्णनं राजवल्लभवास्तुशास्त्रे –

चैत्रे शोककरं गृहादिरचितं स्यान्माधवेऽर्थप्रदं
ज्यैष्ठे मृत्युकरं शुचौ पशुहरं तद्वित्तदं श्रावणे।
शून्यं भाद्रपदेऽश्विने कलिकरं भृत्यक्षयं कार्तिके
धान्यं मार्गसहस्ययोर्दहनभीर्माघे श्रियं फाल्गुने[1]।।

बृहद्वास्तुमालायामपि वृद्धनारदस्य उद्धरणाच्छन्द इदं कथितमस्ति परञ्च राजवल्लभवास्तुशास्त्रे एवमेव प्रकारेण सूत्रधारमण्डनेन प्रस्तुतं कृतम्। तत्र बृहद्वास्तुमालायां हरिशयनी एकादशीत: हरिप्रबोधिनी एकादशीपर्यन्तं पुरप्रासादगृहारम्भ: निषिद्धो वर्तते[2]। नारदमतेन मार्गशीर्षफाल्गुन–वैशाखमाघश्रावणकार्तिकमासेषु गृहारम्भ: पुत्रारोग्यफलप्रदो भवति[3]। योगेश्वराचार्यमते चैत्र: ज्येष्ठ: आषाढ: भाद्रपद: आश्विन: कार्तिक: माघश्चेते मासा: गृहारम्भाय निषिद्धा: सन्ति[4]। राजवल्लभवास्तुशास्त्रे चैत्रादिषु चान्द्रमासेषु क्रमश: चैत्रे शोक: वैशाखमासे अर्थप्राप्ति: ज्येष्ठे मृत्यु: आषाढे पशुनाश: श्रावणे धनप्राप्ति: भाद्रपदे शून्यत्वं आश्विने क्लेश: कार्तिके भृत्यक्षय: मार्गशीर्षपौषमासयो: धनधान्यप्राप्ति: माघे अग्निभयं फाल्गुने च लक्ष्मीप्राप्तिरिति गृहारम्भस्य फलानि वर्णितानि सन्ति[5]। वर्णनमिदं निम्नतालिकामाध्यमेन सरलतया प्रतिपादितमस्ति।

राजवल्लभोक्त चान्द्रमासेषु गृहारम्भफलम्		
क्रमाङ्क:	**चान्द्रमासा:**	**गृहारम्भस्य फलम्**
01	चैत्र:	शोक:
02	वैशाख:	अर्थप्राप्ति:
03	ज्येष्ठ:	मृत्यु:
04	आषाढ:	पशुनाश:
05	श्रावण:	धनप्राप्ति:
06	भाद्रपद:	शून्यत्वम्
07	आश्विन:	कलह:

1 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.7

2 आरम्भं च समाप्तं च प्रासादपुरसद्मनाम्। उत्थिते केशवे कुर्यान्न प्रसुप्ते कदाचन।। बृहद्वास्तुमाला मासादिफलविचार: 2.48

3 सौम्यफाल्गुनवैशाखमाघश्रावणकार्तिका:। मासा: स्युर्गृहनिर्माणे पुत्रारोग्यफलप्रदा:।। बृहद्वास्तुमाला नारदमते मासशुद्धिविचार: 2.50

4 आषाढचैत्राश्वयुजोर्जमाघज्येष्ठेषु सप्रौष्ठपदेषु नूनम्। निकेतनानां घटनं नृपाणां योगेश्वराचार्यमते न शस्तम्।। 2.52 पृ. 68

5 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्। 1.7

08	कार्तिकः	भृत्यक्षयः
09	मार्गशीर्षः	धान्यप्राप्तिः
10	पौषः	धान्यप्राप्तिः
11	माघः	अग्निभयम्
12	फाल्गुनः	लक्ष्मीप्राप्तिः

राजवल्लभवास्तुशास्त्रे वैशाखः श्रावणः मार्गशीर्षः पौषः फाल्गुनश्चेते माषाः गृहारम्भाय शुभाः अन्याश्च चैत्रः ज्येष्ठः आषाढः भाद्रपदः आश्विनः कार्तिकः माघश्चेते मासाः अशुभाः सन्ति परञ्च नारदमते माघकार्तिकमासाः अपि शुभाः वर्णिताः सन्ति। पौषमासः तस्य मते गृहारम्भाय निषिद्धः। योगेश्वराचार्यमते राजवल्लभवास्तुशामतानुसारेणैव चैत्रः ज्येष्ठः आषाढः भाद्रपदः आश्विनः कार्तिकः माघश्चेते मासाः गृहारम्भाय अशुभाः कथिताः सन्ति। गृहारम्भाय प्रायः राजवल्लभवास्तुशास्त्रोक्तानां मासानां ग्रहणं क्रियते पौषमासस्य विषये नैकेषु ग्रन्थेषु भिन्नं वर्णनं प्राप्यते अतः अत्र विभेदो दृश्यते। अस्य निवारणाय सूर्यराशेः सौरमासस्य वा विचारः क्रियते। नारदमते सूर्यराशिमते गृहारम्भः एवमेव प्रकारेण बृहद्वास्तुमालायां वर्णितोऽस्ति –

गृहसंस्थापनं सूर्ये मेषस्थे शुभदं भवेत्।
वृषस्ते धनवृद्धिः स्यान्मिथुने मरणं ध्रुवम्॥
कर्कटे शुभदं प्रोक्तं सिंहे भृत्यविवर्धनम्।
कन्यारोगं तुले सौख्यं वृश्चिके धनवर्धनम्॥
कार्मुके तु महाहानिर्मकरे स्याद्धनागमः।
कुम्भे तु रत्नलाभः स्यान्मीने सद्मभयावहम्[1]॥

वर्णनमिदं तालिकामाध्यमेन स्पष्टीक्रियते –

बृहद्वास्तुमालायां सूर्यराशिभेदात् गृहारम्भस्य फलम्		
क्रमाङ्कः	**सूर्यराशिः**	**फलम्**
01	मेषः	शुभः
02	वृषः	धनवृद्धिः
03	मिथुनः	मरणं
04	कर्कः	शुभः
05	सिंहः	भृत्यवृद्धिः
06	कन्या	रोगः
07	तुला	सुखम्

1 बृहद्वास्तुमाला नारदमते ग्राह्यमासाः 2.53-55 पृ.68

08	वृश्चिकः	धनलाभः
09	धनुः	हानिः
10	मकरः	धनलाभः
11	कुम्भः	रत्नलाभः
12	मीनः	भयम्

गृहारम्भे यथा चान्द्रमासस्य प्रमुखता भवति तथैव सौरमासानामपि प्रामुख्येन वर्णनं राजल्लभवास्तुशास्त्रे प्रतिपादितं वर्तते। सूर्यस्य एकांशभोगकालः एकः सौरदिवसः कथ्यते। त्रिंशदंशभोगकालः एकराशिभोगकालस्य सम एव भवति। अनेन एकराशिभोगेन एकसौरमासस्य कालः कल्पितः।

गृहारम्भार्थं सौरमासानां विचारः द्वारमुखमाध्यमेन वा गृहस्य मुखभेदेन राजवल्लभवास्तुशास्त्रे प्रतिपादितमस्ति। तत्र सिंहकर्कमकरकुम्भतुलामेषवृश्चिकवृषराशिस्थिते सूर्ये गृहारम्भः शुभो मन्यते। एतेषु मासेषु पूर्वपश्चिमदिशि द्वारयुतानां गृहाणामारम्भः सिंहकर्कमकरकुम्भस्थिते सूर्ये शुभो भवति दक्षिणोत्तरदिशि द्वारयुतानां च गृहारम्भः तुलामेषवृश्चिकवृषराशिस्थिते सूर्ये शुभो भवतीति[1]। विपरीतमासेषु गृहारम्भः रोगकारकः द्रव्यनाशकरश्च भवति[2]। अन्येषु कन्यामीनधनुमिथुनराशिषु गते सूर्ये गृहारम्भः द्रव्यहानिकारको भवति इति। यथा –

''कन्यामीनधनुर्गते च मिथुने चास्मिन्न कार्यं गृहम्''[3]।

इदं निम्नतालिकामाध्यमेन स्पष्टीयते –

दिक्परत्वेनसौरमासविचारः			
क्रमाङ्कः	**पूर्वपश्चिम-दिशि द्वारम्**	**उत्तरदक्षिण-दिशि द्वारम्**	**त्याज्यसौरमासाः**
01	सिंह	तुला	कन्या
02	कर्क	मेष	मीन
03	मकर	वृश्चिक	धनु
04	कुम्भ	वृष	मिथुन

भारतीयवास्तुशास्त्रे कालस्य गणना ज्योतिश्शास्त्रस्य सहाय्येन भवति अतः ज्योतिषमपि वास्तुशास्त्रस्येकमङ्गं प्रसिद्धम्। वास्तुशास्त्रे शुभाशुभलक्षणसंयुतस्य कालस्यापि वर्णनं प्राप्यते। वास्तुकर्मसु मुहूर्तानां प्रयोगः शास्त्रीयग्रन्थानामाधारेण क्रियते। सम्यग्दिने सुलग्ने च

1 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.8

2 द्वारं भिन्नतया करोति रोगोऽर्थनाशस्तदा। राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.8

3 राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1.8

वास्तुनिर्माणस्य प्रवचनं वास्तुशास्त्रं करोति। तत्र शुभानाम् अयनमासपक्षदिनादीनां वर्णनं प्राप्यते। वास्तुनिर्माणे मासानां शुभाशुभं वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वर्ण्यते। तेषु सर्वेषु ग्रन्थेषु कदाचित् वैभिन्यमपि दृश्यते। निष्कर्षरूपेण प्राप्यते यद् राजवल्लभवास्तुशास्त्रे मासानां सन्दर्भे प्राप्तवर्णनं पूर्ववास्तुशास्त्रीयपरम्परानुसारेणैवास्ति। राजवल्लभवास्तुशास्त्रस्योत्तरकालीनग्रन्थेषु अपि अस्यैव समर्थनं प्राप्यते। एवमेव कारणेन वास्तुशास्त्रीयग्रन्थानां महोदधौ राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् मणिरूपेण राराज्यते।

वैदिकवाङ्मये वास्तुशास्त्रम्- एकमध्ययनम्

डॉ.कपिलदेव हरेकृष्ण शास्त्री

वेदशब्दः विद् धातोः घञ् प्रत्ययान्निष्पन्नः, यस्यार्थो भवति पवित्रज्ञानम् - घञ् प्रत्ययस्यार्थो भवति भावः कर्म करणं वा। अतः ज्ञानं ज्ञेयपदार्थः ज्ञानस्य साधनम् वा इति त्रयमेव वेदशब्दस्य वाच्यार्थोः भवितुं शक्यते। वेदशब्दः विद् लाभे, विद् सत्तायां, विद् विचारणे इति धातुना सम्पद्यते। ऋक्प्रातिशाख्यव्याख्याकारेण कथितं यत् -

विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः।[1]

अत एव धर्मार्थकाममोक्षात्मकपुरुषार्थचतुष्टयाणां वर्णनं यत्र विद्यन्ते ते ग्रन्थविशेषाः वेदाः। वेदा हि अशेषज्ञानविज्ञानराशयः कर्तव्याकर्तव्यबोधकाः शुभाशुभनिदर्शकाः सुखशान्तिसाधकाः चतुर्वर्गावाप्ति-सोपानस्वरूपाश्च। कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यभूमिकायां श्रीविद्याधरशर्ममहाभागः[2] वेदशब्दस्य व्याख्यां कथति यद् वेदेषु अकारान्तवेदशब्दः द्विप्रकारको समुपलभ्यते- आद्युदात्तः-अन्तोदात्तश्च। अतः तस्यार्थोऽपि द्विविधः- एकः शब्दराशिः ऋगादिचत्वारः वेदाः, अपरो दर्भमुष्टिः यज्ञीय पदार्थविशेषः।[3] तत्र ग्रन्थराशिवाचकः सर्वोऽप्याद्युदात्तः, कुशमुष्टिवाचकः तु अन्तोदात्तः। अनयोः द्वयोः आद्युदात्त-अन्तोदात्तयोः वेदशब्दयोः सिद्ध्यर्थमेव भगवता पाणिना अपि उच्छादिगणे[4] वृषादिगणे[5] च वेदशब्दद्वयं पठितम्। सायणाचार्यस्तु 'अपौरुषेयं **वाक्यो वेदः**' इत्यपि आह। इष्टप्राप्तिः अनिष्टनिवारणस्य अलौकिकमुपायको ग्रन्थः वेद इति कथ्यते। यथा-

इष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारयोः अलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।[6]

अर्थात् यः उन्नतेः प्रगतेश्च पथं दर्शयति तथा दुष्फलात् निवारयति सः वेदः वैदिकवाङ्मयम् वा सामान्यतया चतुर्धा विभज्यते। संहिता, ब्राह्मणम्, आरण्यकम्, उपनिषत्। एतदतिरिक्तं वेदाङ्गानामपि वैदिकवाङ्गमये समावेशो जायते। अत्र 'वेदः' इत्येतस्य पदस्य प्रयोगो मन्त्रब्राह्मणयोः निमित्तेन विधीयते। आपस्तम्बेन प्रोक्तं च

1.ऋक्प्रातिशाख्यम्-विष्णुमित्रः

2.कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्यभूमिका

3.कात्यायनश्रौतसूत्रम्

4.पा.उच्छादीनां च, 6.1.160.

5.पा.वृषादीनां च, 6.1.203.

6.तैत्तिरीयसंहिता भाष्यभूमिका

''मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्''[1]। येन हि यज्ञयागानामनुष्ठानं, देवतानां च स्तुतिर्विधानं यत्र उल्लिखितमस्ति तत् मन्त्र इति प्रोच्यते। ब्राह्मणम् इत्येतस्य पदं ग्रन्थविशेषवाचकम्। ब्राह्मणम् इति संज्ञा तु यज्ञानां विविधक्रियाकलाप-प्रतिपादक-ग्रन्थरूपा एव। अतः तेन हि प्रधानतया द्विविधो वेदः- मन्त्ररूपो ब्राह्मणरूपश्च।

मन्त्राणां समूह एव अत्र संहितापदेन व्यवह्रियते। संहिताशब्दः मूलतः ग्रन्थवाचकः, यत्र भाष्यं, व्याख्यानं नास्ति, किन्तु मूलमन्त्राः सूक्तानि च सन्ति। संहिताकरणे ऋषि-देवता-छन्दसां विनियोगप्रभृतीनां विभिन्नतत्त्वानां नियामकता वर्तते, किन्तु यागात्मकप्रयोजनं सर्वोपरि वर्तते इत्यपि एकं मतम्।[2]

वस्तुतो वेदस्तु एक एव आसीत् किन्तु वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इति स्मृतः। इति कथनानुसारं व्यासेन मन्त्रसंहितानां विभाजनं चतुर्विधतया कृतम्। तादृशं वैदिकवाङ्मयमेकं विशालं साहित्यं वर्तते, यत्र संहिताग्रन्थाः, ब्राह्मणग्रन्थाः, आरण्यक-ग्रन्थाः, वेदाङ्गानि, उपनिषदः च समाविश्यन्ते। ऋग्वेदः, यजुर्वेदः,सामवेदः तथा अथर्ववेदः इति क्रमेण चतस्रः संहिताग्रन्थाः सन्ति। तत्र स्थापत्यस्य विविधानि अङ्गानि सम्यक्-रूपेण उल्लिखितानि सन्ति। वास्तुशास्त्रस्य समुद्भवः स्थापत्यवेदाद् अभवत्। अथर्ववेदस्य अङ्गभूतं वस्तुतो वास्तुशास्त्रम्।

यथा नानाविधानि शास्त्राणि समस्तस्य ब्रह्माण्डस्य वर्णने विपुल विचारवैभवानि सन्ति, तथैव वास्तुशास्त्रस्य विचारेऽपि सुसमृद्धानि सन्ति। वास्तुशास्त्रमेकं सुपरिचितं विज्ञानमस्ति। यस्मिन्नस्माकं सांस्कृतिकनिधीनां भवननिर्माणविधीनां च समुल्लेखो वर्तते। पञ्चमहाभूतानामेव उपयोगेन मानवः स्वजीवनं सुविधासम्पन्नं कर्तुं शक्नोति। दिगनुसारेण भवनस्य स्थिति विन्यासस्य प्रभावः स्पष्टरूपेण मानवजीवने निपतति। आदिकालाद् ऋषयः तेषां प्रभावानामनुशीलनं कृत्वा समाजस्य सुखसमृद्ध्यर्थं विशिष्टनियमानां निर्धारणं कृतवन्तः। तज्ज्ञानमेव सर्वत्र वास्तुशास्त्ररूपेण प्रथितमभूत। वास्तुशास्त्रे मानवजीवनस्य दैनिकक्रियाकलापानां तथा विचारधारायाः एकं प्रतिरूपं दृश्यते। पुराणेषु वर्णितायां गृहनिर्माणकलायां तत्कालीनसमाजस्य समृद्धिः तथा बौद्धिक-विकासस्य परिचयो द्रष्टुं शक्यते।

वास्तुशास्त्रं मूलतः विज्ञानस्य विषयः अस्ति। अत्र पृथ्वी, अग्निः, जल, वायुः, आकाश्चेति पञ्चतत्त्वानां प्रभावो परिगण्यते।

वास्तुशब्दस्यार्थः -

वास्तुशब्दस्य निष्पत्तिः 'वस्निवास' धातोः संजाता। यस्यार्थः निवासकरणं भवति।

1. आपस्तम्ब,परिभाषा-31,

2. वैदिकसाहित्य और संस्कृति का स्वरूप और विकास

वसन्ति प्राणिनः यत्र अर्थात् प्राणिनां निवासस्थानं वास्तु इति कथयते। अनया दृष्ट्या प्राणिनो यत्र निवसन्ति तेषामर्थे तदेव वास्तु भवति। जलचराणां कृते जलमेव वास्तु भवति, पक्षिणां कृते तेषां नीडमेव वास्तु भवति। यथा अमरकोषे उक्तमस्ति– वेश्मभुर्वास्तुस्त्रियाम्।[1] कोषानुसारं गृहस्य कृते नियतभूमिरेव वास्तु इति।

वास्तुशब्दस्य सामान्यो मर्यादितोऽर्थः निवासयोग्या भूमिः अथवा भवनं भवति। किन्तु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वास्तोर्विषयः गहनः व्यापकश्च वर्तते। विश्वकर्मावास्तुशास्त्रे उक्तम् –

देवतानां नराणाञ्च गजगोवाजिनामपि।
निवासभूमिः शिल्पज्ञैर्वास्तुसंज्ञामुदीरितम्।[2]

अर्थात् देवः, मनुष्यः, गजः, धेनुः, अश्वादयः पशवो यत्र निवसन्ति तदेव वास्तु भवति। एतदतिरिक्तं मानवः स्वकीयं सुविधार्थं भवननिर्माणाय येषां केषामपि वस्तूनामुपयोगं करोति तद्वस्त्वपि वास्तु भवति। विश्वकर्मावास्तुशास्त्रानुसारेण इष्टिका, शिला, वृक्षः, कीलादीनि सर्ववस्तूनि वास्तुसंज्ञकानि भवन्ति। यथा –

इष्टिका च शिला दारुरयस्कीलादयोऽप्यमी।
वास्तुकर्मणि चान्यत्र वास्तुसंज्ञामुदीरितम्।।[3]

पूर्वोक्तमतानुसारेण वास्तुशास्त्रस्य भूमेः, हर्म्यस्य, प्रासादस्य, यानस्य, पर्यङ्कस्य, शयनस्य च संकीर्तनं जातम्। वस्तुतस्तु मयमते भूमिरेव प्रधानं वास्तुरस्ति इति कथितम् –

धराहर्म्यादियानं च पर्यङ्कादिचतुर्विधम्।
धराप्रधानवास्तु स्यात्तत्तज्जातिषु सर्वशः।।[4]

एतेषां वस्तूनां निर्माणं यत्र भवति तत्स्थानं भूमिरेवास्ति। अन्यथा यदि कथयामश्चेत् समेषां एतेषां वास्तूनामाधारो 'धरा' विद्यते। अनेन प्रकारेण वास्तुपदस्य व्युत्पत्तिः वस्तुशब्देनापि स्वीक्रियते।

कौटिल्य-अर्थशास्त्रेऽपि वास्तुशब्दस्य विस्तृतरूपेण वर्णनं कृतमस्ति। कौटिल्यमतानुसारेण गृहम्, क्षेत्रम्, आरामाः, सेतुबन्धः, भवनम्, तड़ागः, पुष्कराणि प्रभृतीनि स्थानानि वास्तुशब्देन व्यवह्रियन्ते। तद्यथा–

गृहं क्षेत्रमारामः सेतुबन्धस्तडागमाधरो वा वास्तु।[5]

अनेन प्रकारेण विज्ञायते यत् सामान्यजनस्य निवासभवनमेव वास्तु न भवति, अपितु राजभवनं, प्रासादः, ग्रामः, नगरं, रथ्या, मार्गः, प्रकारः, परिखा, मन्दिरं, मण्डपः, यज्ञवेदी,

---

1. अमरकोषः-2.19
2. विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम्-7.1.
3. विश्वकर्मावास्तुशास्त्र-7.61.
4. मानसार-3.2,
5. अर्थशास्त्रम्-3.8

सभागृहं, कूपः, तडागः, वापी, स्तूपादीन्यपि वास्तवन्तर्गतानि भवन्ति।

मानसारमयमतादिषु समराङ्गणसूत्रधारस्य पूर्ववर्तिषु तथा शिल्परत्नादिषु परवर्तिषु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वास्तुशब्दस्य अर्थः क्षेत्रम्, भवनम्, प्रासादः, राजहर्म्यं, देवमन्दिराणि, देवप्रतिमादयोऽस्ति। भारतीयस्थापत्यानुसारं वास्तुविनियोजना समस्तभूमण्डलं गृहीत्वा प्रचलति। भारतीये स्थापत्ये समस्तविश्वस्य चिन्तनं भवति।

वास्तुपुरुषोत्पत्तिः-

वास्तुपुरुषः कोऽस्ति इति विषये एका आख्यायिका शास्त्रे वर्तते। ब्रह्मणः द्वौ मानसपुत्रौ आस्ताम्। एकः महर्षिनारदः अन्यः वास्तुपुरुषः। महर्षिनारदः सात्विकः तथा वास्तुपुरुषः तामसिकः। सो वास्तुपुरुषो देवानां कृते कष्टदायक आसीत्। देवाः त्रस्तो भूत्वा ब्रह्माणं निवेदितवन्तः, तदा ब्रह्मापि, सर्वं वृत्तान्तं श्रुत्वा, अहमपि त्रस्तः अस्मि, अतः भवद्भ्यो यथा रोचते तथा कुरु इति, उक्तवान्।

एकदा स वास्तुपुरुषः एकाकी स्वर्गे स्वस्थाने उपविष्टः आसीत्। तदा सर्वे देवाः एकत्रीभूय तं वास्तुपुरुषं पृथिवीं प्रति क्षिप्तवन्तः। तदा वास्तुपुरुषः स्वर्गान्मृत्युलोकं प्राप्य अधोमुखम् अपतत्। तस्मिन्समये वास्तुपुरुषस्य शिरः ऐशान्यकोणे तथा पादौ नैऋत्यकोणे आस्ताम्। तदा तेन स्वपितरम् ब्रह्माणं प्रार्थना कृता यदहं कुत्र निवसामि, मम भोजनं किं? तदा देवैः वरः प्रदत्तः यद् यत्र यत्र नूतनं गृहं, वापी, सरः, कूपो, प्रासादादिर्भवेत् तत्र तत्र अग्निकोणे ईशानकोणे वा तव वासो भविष्यति। एवं तव होमकार्ये यद् यद् द्रव्यम् आहुतिद्वारा प्राप्यते। तद् अन्नम् तव भोजनं भविष्यति। तदारभ्य-अद्यावधि पृथिवीलोके वास्तुपूजनं भवति, वास्तुपूजनेन नूतनगृहादिस्थाने निवसतां जनानां कृते सुख- शान्ति-सम्पत्यादीनां प्राप्तिर्जायते।

वैदिकवाङ्मये वास्तुशास्त्रम्-

संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-वेदाङ्गानाञ्चावलोकनेन प्रतीयते यद् वास्तुशास्त्रस्य विकासो यज्ञवेदीनिर्माणाय शुल्बसूत्रात्समजायत इति। वास्तुशास्त्रे प्राचीनभवननिर्माण-विधीनां समुल्लेखो वर्तते। वैदिकमन्त्रेषु वास्तुशास्त्रविषयकाः विविधविषयाः विविधस्थानेषु दृष्टिपथमायान्ति। उपवेदेषु आयुर्वेदः, धनुर्वेदः, गन्धर्ववेदः, स्थापत्यवेदश्च विद्यन्ते। स्थापत्यवेद एव शिल्पवेदः। शिल्पशास्त्रमेव क्रमशः विकासं प्राप्य वास्तुशास्त्ररूपेण प्रसिद्धं जातम्। ऋग्वेदे विविधसूक्तेषु मन्त्रेषु च वास्तु, वास्तव्यशब्दानां स्पष्टतया उल्लेखो दृश्यते। यथा –

नमो वास्तव्याय वास्तुपाय च॥[1]

ता वां वस्तून्युष्मसि गमध्यै ॥[2]

ऋग्वेदे वास्तोष्पतिदेवतायाः स्तुतिपरं सूक्तमेकं प्राप्यते –

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।[3]

ऋग्वेदे सप्तममण्डले अष्टममण्डले च वास्तोष्पतिर्देवतासम्बन्धिनः मन्त्राः दृश्यन्ते। तेषां मुख्यरूपेण मैत्र-वारुणिर्वसिष्ठऋषिः, त्रिष्टुप्छन्दः, वास्तोष्पतिश्च देवता-वर्तन्ते। यथा –

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्।
सखा सुशेव एधि नः॥[4]
वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणां सत्रं सौम्यानाम्।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा॥[5]

गृहनिर्माणविधिः

वेदे वास्तुनिर्देशकाः बहवः शब्दाः। तेषु गृह- गेह- दम- दुर्य- दुरोण- दुर्योण- क्षय- धामन्- पस्त्या- सदन- शाला- हर्म्य- छर्दि- आयतन- ओकसादयः प्रयुज्यमानाः दृश्यन्ते। यथा गृहशब्दः –

बृहन्तं मानम् वरुण स्वधावः
सहस्रद्वारम् जगामा गृहं ते॥[6]
गृहानेमि मनसा मोदमानः।
राजन्तमध्वराणाम् गोपामृतस्य दीदिविम्॥[7]

मुख्यगृहात् कस्यां दिशि अन्यद् गृहं कर्तव्यमिति विषये नारायणदैवज्ञेन मुर्हूतमार्तण्डे वर्णितं यत्-

स्नानाग्निस्वपिवस्त्रभोजनपशुद्रव्यामरौकः स्थितिः
पूर्वादौ जलमीशितुर्दिशि परं वायोरपाङ्मूत्रकम्।

1. शु.यजुर्वेद-16.39
2. ऋग्वेद.1.154.6
3. ऋग्वेद-7.54.1-3,
4. ऋग्वेद-7.55.1,
5. ऋग्वेद-8.17.14,
6. ऋग्वेद-7.88.5,
7. शु. य. 3.41

आल्येशक्तिभुवोर्यथारुचि परे गेहस्य दक्षे घर-
ट्टाम्बूलूखलचुल्लिकापितृपदप्रक्षालनान्यूचिरे।।[1]

पूर्वदिक्स्नानगृहम्, अग्निकोणे पाकगृहं, क्रमेण दक्षिणस्यां दिशि शयनगृहं, नैर्ऋत्यकोणे वस्त्रगृहं, पश्चिमदिशि भोजनगृहं, वायव्यकोणे पशुगृहं, उत्तरस्यां दिशि सुवर्णादि द्रव्यगृहं, ईशानकोणे देवगृहं जलकार्यञ्च भवेयुः। वायोर्दिशि- अनुक्तपदार्थसंग्रहकक्षः, दक्षिणस्यां दिशि पुरीषत्यागगृहं कार्यम् अथवा स्थानाल्पे इच्छानुसारं कर्त्तव्यम्। केचन पिष्टयन्त्रं, उदकं, उलूखलं, चुल्लिका, पितृपादप्रक्षालनस्थानञ्च दक्षिणभागे कथितवन्तः।

पूर्वादिक्रमेण मुहूर्तचिन्तामणौ एवं वर्ण्यते यत्- पूर्वस्यां स्नानगृहं, आग्नेये पाकगृहं, दक्षिणे-शयनगृहं, नैर्ऋत्येऽस्त्रागारं, पश्चिमे भोजनगृहं, वायव्ये धान्यागारः उत्तरे भाण्डारगृहं ईशानकोणे च दैवतगृहं भवेयुः इति।[2]

अथर्ववेदे कक्षस्यान्तर्भागेषु बहुमूल्यवस्तूनां संग्रहार्थं कोषगृहस्य वर्णनमपि कृतमस्ति-

कुलायेधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते।[3]

वस्तुतः गृहं गृहस्वामिनः केन्द्रं भवति। अथर्ववेदे सामान्यकुटीराद् आरभ्य विशालभवनपर्यन्तं विविधकक्षाणाम् द्विपक्ष- चतुष्पक्ष- षट्पक्ष- अष्टपक्ष- दशपक्षादीनां शालानां भवनानां च निर्माणव्यवस्था विशेषरूपेण वर्णितमस्ति।

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निर्मीयते।
अष्टपक्षाम् दशपक्षाम् शालां मानस्य पत्नीगर्भ इवा शये।।[4]

तदा भवनानां निर्माणं समुद्रस्य निकटे तथा च तडागस्य मध्ये अपि भवति

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो ग्रहाः पराचीना मुखा कृधि।।[5]

अथर्ववेदे षष्ठे काण्डे प्राप्यते यत् भवनं शीतलं भवितव्यम् -

1. मुहूर्तमार्तण्ड-6.18
2. मुहूर्तचिन्तामणि-12.21
3. अथर्ववेद. 9.3.20,
4. अथर्ववेद. 9.3.21,
5. अथर्ववेद. 6.106.2

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परिव्ययामसि।
शीतहृदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम्।।[1]

अथर्ववेदीयवास्तुसूत्र-उपनिषदि स्थापत्यकलायाः विषयवस्तु प्राप्यते। तत्र षट्-प्रकारकाणाम् शिलानां उल्लेखो वर्तते। हिरण्यरेखिका, समवर्णा, ताम्रा, धातुपटिता, वज्रलब्धा, सैकता, लिकाश्चेति। एतेषु समवर्णा शिला प्रतिमायाः निर्माणकार्ये योग्या इति कथ्यते।

वैदिकग्रन्थानुशीलनेन विज्ञायते यत् वैदिकसमाजः पूर्णतया सुसंस्कृतः आसीत्। तेन जीवनं सुखमयं, सुसमृद्धं च कर्तुं गृहनिर्माणकलायाः विकासो जातः। ऋग्वेदे गृहशब्दः निवासस्य सदनस्य वार्थे प्रयुक्तः। ऋग्वेदे गृहस्य कृते पर्यायवाचिनः शब्दाः समुपलब्धाः सन्ति। यथा- गयः, धामन्, दमः, सदनं, आयातनम्, क्षयः, ओकस्, वेश्मः निवेशन इत्यादयः। यथा- **सुरणं गृहे ते।**[2] ऋग्वेदसंहितायां गृहनिर्माणस्य निर्देशाः प्राप्यन्ते। यत्र सूर्यस्य किरणाः बहुशः आयान्ति यथा- **तां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।।**[3]

अनेन स्पष्टं भवति यत् शालानां गृहाणां वा मुखानि पूर्वदिशि स्थातव्यानि। मनुष्याणां कृते उत्तरस्यां वापि विन्यासः स्वीकार्यः। गृहाणां प्रायशः पूर्वस्यामेव दिशि हि मुखानि भवन्ति।[4] अथर्ववेदे शालायाः गृहनिर्माणस्य च विषये विशेषरूपेण अधिकं महत्वपूर्णं वर्णनं वर्तते। अनेन वैदिकयुगस्य गृहाणां शालानां च निर्माणविषये सुन्दरं स्पष्टं चित्रं दरी दृश्यते। अथर्ववेदस्य तृतीयसूक्ते प्रथममन्त्रे गृहनिर्माणं कथं कर्तव्यम् इति कथितमस्ति। सर्वाणि द्वाराणि समानानि भवेयुः। सा शाला परितश्चतुरस्रस्वरुपा तथा तस्य द्वाराणि चतुर्दिक्षु वायुग्रहण-अनुकूलानि, सुदृढबन्धनान्वितानि च स्युः। यथा-

इहैव ध्रुवाम् प्रति तिष्ठ शाले अश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।।[5]

तस्मिन् काले गवाश्वादीनां दुग्धजलादीनां च समृद्धिः आसीत्। तदा जनाः स्वस्य आ. जीविकायाः जीवनयापनस्य वा कृते कृषि-पशुपालनयोः निर्भरा आसन्। अतस्तेषां शालायां पशूनां बृहती संख्यासीत्। तेषां शाला गवाश्वादीभिः परिपूर्णासीत्। घृतदुग्धादीनां वैपुल्यमासीत्।

अथर्ववेदे चतुर्णां प्रकोष्ठानां भेदानाम् उल्लेखः प्राप्यते। वैदिककाले बहवः प्रकोष्ठाः आसन्। तेषां भिन्नं-भिन्नं प्रयोजनमासीत्। भिन्नप्रकोष्ठानां प्रमाणं अथर्ववेदे प्रतिपादितमस्ति। यथा-

---

1. अथर्ववेद. 6.106.3,
2. ऋग्वेद.3.53.6.
3. ऋग्वेद. 1.154.6.
4. ऋग्वेद. 1.154.1-3,
5. अथर्ववेद. 3.12.2.

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवी शाले॥[1]

पूर्वोक्तानुसारं प्रथमे प्रकोष्ठे हविर्धान्यादीनां संग्रहः, द्वितीय- प्रकोष्ठे गृहस्थिनो गार्हपत्याग्निराधनम् कृतवन्तः। तृतीयप्रकोष्ठे पत्नीनां सदनम् आसीत्। तदेव अन्तःपुरमिति संज्ञया प्रसिद्धम्। चतुर्थप्रकोष्ठे सभासदनं स्थानमण्डपं वा कथितम्। एतदतिरिक्तं गवाश्वादिपशूनां कृते अपि सम्यक् रक्षणाय- पोषणाय च पृथक्स्थानमासीत्।

स्तम्भविचारः

गृहस्योपरिभागस्य भारं स्तम्भ एव वहति, तस्मात्कारणात् तं विना न कस्यापि गृहस्य निर्माणं कर्तुं शक्यते। स्तम्भस्य विषये अथर्ववेदे उपमितां परिमितामिति शब्दयोः प्रयोगः प्राप्यते। तद्यथा-

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि॥[2]

अथर्ववेदस्य आधारेण गृहनिर्माणस्य साधारणतया चत्वारः स्तम्भाः भित्तेरुपरि निर्मिताः भवन्ति। ते उपमित इति नाम्ना परिचिताः। स्तम्भोपरि वेशमस्थूणाः स्थाप्यन्ते, ते प्रतिमिताः। ततः स्तम्भसंयोजनार्थं वेशमस्थूणाः परिमिता वर्द्धयन्ते। ततो उच्छ्रायोपरि पञ्जररूपेण बद्धा वंशा विषुवन्तो भवन्ति, अनन्तरं तृणपटलेन गृहस्य आच्छादनं भवति, पलद इति नाम भवति। वैदिकयुगादेव स्तम्भनिर्माणं अद्यावधिं यावत् अक्षुण्णरूपेण दृश्यते। बृहत्संहिताग्रन्थे स्तम्भस्य प्रमाणं विद्यते -

नवगुणितेऽशीत्यंशाः स्तम्भस्य दशांश हीनाग्रे॥[3]

स्तम्भस्य उच्छ्रये नवगुणिते तस्य अशीतितमो भागः स्तम्भस्य मूले पृथुत्वमानम्। तत् पृथुत्वप्रमाणे दशांशः स्तम्भस्य अग्रे पृथुत्वम् भवति। यथा राजगृहस्य प्रथमायां भूमिकायां दशहस्ताः, दशाङ्गुलानि एतदेव स्तम्भस्य उच्छ्रायप्रमाणम्। तदुच्छ्रायमानं नवगुणितात् अशीत्यंशः अष्टाविंशत्यंङ्गुलानि स्वल्पान्तरात्। एतत् मूले पृथुत्वं भवति। मूले पृथुत्वस्य दशांशाः अग्रे पृथुत्वम्। अतः त्रिगुणा परिधिः।

स्तम्भादीनां मानविचारणे बृहत्संहिताग्रन्थे -

समचतुरस्त्रो रुचको वज्रोऽष्टास्त्रिद्विवज्रको द्विगुणः।
द्वात्रिंशता तु मध्ये प्रलीनको वृत्त इति वृत्तः॥[4]

स्तम्भस्य मध्यभागः चतुरस्त्रस्तदा स रुचको नाम स्तम्भः। मध्यभागो अष्टकोणीयः

1. अथर्ववेद. 9.3.21.
2. अथर्ववेद.9.3.1,
3. बृहत्संहिता-52.27
4. बृहत्संहिता-52.28

तदा स्तम्भः वज्र इति कथ्यते। यस्य स्तम्भस्य मध्यभागः षोडशकोणीयः वर्तते स द्विवज्र इति नाम। स्तम्भस्य मध्यभागः द्वात्रिंशत्कोणीयः तदा प्रलीनक इति कथ्यते। स्तम्भमध्यो वृत्तश्चेद् वृत्तसङ्ज्ञो भवति। एत एव स्तम्भाः प्रशस्तफलदायकाः भवन्ति। अन्ये नेष्ट फलदायकाः। अत्र किमर्थं मध्यभागस्य विचार इत्युक्ते तत्र ऊर्ध्वाधोभागानां विचारो विद्यते, यथा-

स्तम्भं विभज्य नवधा वहनं भागो घटोऽस्य भागोऽन्यः।
पद्मं तथोत्तरोष्ठं कुर्याद् भागेन भागेन॥[1]

स्तम्भं नवभिर्भागे विभज्य तत्र सर्वाधो भागे वहनं कार्यम्। वहनं नाम उह्यते, धार्यते भूमौ येन स्तम्भभागेन तद्वहनम् इत्यर्थः।

वहनस्य ऊर्ध्वभागे विद्यमानद्वितीयभागः घटः। घटस्य ऊर्ध्वभागे कमलं कार्यं, चतुर्थो भागः उत्तरोष्ठ इति। अत्र उत्तरोष्ठो यत्र शोभार्थं चित्रकविशेषाः क्रियन्ते ततः पञ्चमो भागः मध्यः, तस्योपरि पुनः उत्तरोष्ठादीनि कार्याणि। तथोक्तं भट्टोप्पलटीकायाम्-नवधा विभक्ते स्तम्भेऽधरोर्ध्वभागचतुष्केऽधो हिरण्यादीनि कार्याणि। शेषं भागपञ्चकं समचतुरस्त्रादिकं कार्यम्।

सम्प्रति स्तम्भस्य उपरि निवेश्यमानस्य काष्ठस्य विचारः क्रियते। स्तम्भस्य उपरि यत् तिर्यक् कृत्वा काष्ठं दीयते तस्य भारतुला संज्ञा भवति -

स्तम्भसमं बाहुल्यं भारतुलानामुपर्युपर्यासाम्।
भवति तुलोपतुलानामूनं पादेन पादेन॥[2]

प्रासादादिषु स्तम्भानां बहुत्वात् भारतुला इति बहुवचननिर्देशः कृतः। भारतुलाया उपरि यदन्यत् काष्ठं दीयते तस्य तुलोपतुला इति नाम भवति। भारतुलानां स्तम्भमितं घनत्वं कार्यम्। यथा राजगृहे स्तम्भस्य घनत्वं अष्टाविंशति-अङ्गुलानि, भारतुलानामपि तर्थव कार्यं भवति। एवं भारतुलानामुपरि विद्यमानपतुलानां भारतुलायाः पादोनम् कार्यम्।

वैदिककाले आर्यजनाः बहूनां ग्रामाणां सर्जनं कृतवन्तः। अतः वैदिकवाङ्मये-अनेकत्र ग्रामाणाम् उल्लेखाः वर्तन्ते। यथा यजुर्वेदे ग्रामस्य उल्लेखः विद्यते-

यदग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये॥[3]

ऋग्वेदे-अग्नये ग्रामरक्षकः पुरोहित इति कथनमस्ति-

अग्निः ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽस्ति यज्ञेषु मानुषः।[4]

ग्रामाः प्रायः विस्तृताः आसन्। ग्रामस्य निवेशसमये जलस्य वायोश्च विचारो भवति।

---

1. बृहत्संहिता-52.29,
2. बृहत्संहिता-53.30,
3. शु.यजु. 3.45,
4. ऋग्वेद.1.44.10,

बृहद्ग्रामस्य संज्ञा 'महाग्रामः' आसीत्। शतपथब्राह्मणेन ज्ञायते यद् वैदिककाले केचिद् ग्रामा निकटवर्तिनः आसन्। केचिच्च दूरस्थिताः मार्गे सम्बद्धाः संयुक्ता आसन्। तद्यथा-

सा यद् ग्राम्यैः संस्थापयेत्। समध्वानः क्रामेयुः समन्तिकग्रामयोग्रामान्तौ स्यातां नऽक्षीकि पुरुषःव्वधाः परिमोषिण आ व्याधिन्यस्तस्करा अरण्येषु जायेरन्॥[1]

वास्तुशास्त्रदृष्ट्या निर्मितानां गृहाणां रचना पर्यावरणम् अभिलक्ष्यैव भवति। यथा क्रमेण पृथ्वी-अग्नि-जल-वायु-आकाशादीनां पञ्चतत्त्वानां महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। वास्तुशास्त्रमेकं सुपरिचितं प्राचीनं वैदिकविज्ञानम् अस्ति। यस्मिन्नस्माकं सांस्कृतिकनिधीनां भवननिर्माणविधीनां च समुल्लेखो विद्यते। पञ्चमहाभूतानामेव सदुपयोगेन मानवः स्वजीवनं सुविधासम्पन्नं कर्तुं शक्नोति। दिगनुसारेण भवनस्य स्थितिविन्यासस्य प्रभावः स्पष्टरूपेण मानवजीवने निपतति। आदिकालादृषयः तेषां प्रभावानाम्-अनुशीलनं कृत्वा सम. ाजस्य सुखसमृद्ध्यर्थं विशिष्टनियमानां निर्धारणं कृतवन्तः। विश्वे सर्वत्र तज्ज्ञानमेव वास्तुशास्त्ररूपेण प्रख्यातम्। एवं वैदिकवाङ्मये संहिता-ब्राह्मणश्रौतसूत्रादिग्रन्थानामवलोकनेन ज्ञायते यद् वास्तुशास्त्रस्य प्रादुर्भावः, विकासश्च वेदाद् एव सिध्यति, तत्र भूमिपरीक्षणम्, स्तम्भस्थापनम्, गर्तविचारः, मापदण्डः, सभागृहम्, शयनकक्ष इत्यादिकं वर्णनं विद्यते त. था च उपकरणगृहम्, गृहनिर्माणम्, षोडशगृहनिर्माणम्, गृहे पाकशालादीनां स्थाननिर्णयः, गृहेषु स्तम्भस्थापनम्, द्वारवशाद् विविधगृहविवरणम्, गृहे ग्रामादौ च कूपतड़ागादि-जलाशयस्थाननिर्णयः, गृहं ग्रामं च परितः स्थापनीयवृक्षाः, निषिद्धवृक्षाः, वृक्षद्वारा अशुभनिवृत्तिः, वास्तुमण्डलदेवता तेषां पूजादिवर्णनम्, प्रासादादीनां लक्षणम्, प्रासादान्तः द्वार-देवतादीनां मानस्थापनादीनि वास्तुशास्त्रसम्बन्धिविचाराः विस्तारेण विद्यन्ते, तेषामुपरि शोधकार्यस्थावश्यकता वर्तते।

1. शतपथब्राह्मणम्-8.6.2

प्रासादे प्रतिमानिर्माणम्

डॉ. ब्रजेशकुमारः

भारतीयसंस्कृतौ सभ्यतायां च यदा धार्मिकचेतना आध्यात्मिकतां स्वीकृत्य उदिता तदा ब्रह्मणः रूपद्वयं दृष्टम्- निर्गुण-ब्रह्म सगुण-ब्रह्म च। प्रथमं स्वरूपं निराकार आसीत् यस्मिन् ब्रह्मणः स्वरूपं निर्गुणं, निर्विशेषं, इन्द्रियातीतं च स्वीकृतम्। द्वितीयं स्वरूपं सगुणं साकारश्च आसीत् यस्मिन् अस्य स्वरूपं सविशेषं मायोपाधिकं च स्वीकृतम्। इयमेव दार्शनिकमान्यता कालान्तरे विभिन्नानां देवीदेवतानां कल्पना भूता। मानवः ब्रह्मणः शक्तीनाम् अवताराणाञ्च भौतिकं कलेवरं कल्पिवान्। फलस्वरूपम् इमानि प्रतीकानि कालान्तरे कला-सौन्दर्यबोधेन सह सम्बद्धो भूत्वा मन्दिराणां प्रतिमानाञ्च रूपे प्रकटितानि।।

वासुदेव शरण-उपाध्यायमहोदयेन मन्दिरस्य उपादेयतायाः उल्लेखं कुर्वन् कथितं यत्- ''हिन्दूधर्मे मन्दिरनिर्माणं पारलौकिककार्याणि सन्तीति मनसि निधाय क्रियते।''[1] तत्र भक्ताः इष्टदेवस्य आह्वानं स्तुतिपाठञ्च एकत्रीभूय कुर्वन्ति।

प्रतिमायाः शाब्दिकोऽर्थः 'प्रतिरूपं' भवति। अर्थात् समाना आकृतिः। पाणिनिना अपि स्वकीये सूत्रे 'इवे प्रतिकृतो'[2] इत्यस्मिन् समरूपा आकृतेः अर्थे प्रतिकृतिशब्दस्य प्रयोगः कृतः। प्रतिमाविज्ञानाय आङ्गलभाषायां ''आइकोनोग्राफी'' शब्दः प्रयुज्यते। 'आइकन' शब्दस्य तात्पर्यः तस्याः देवतायाः अथवा ऋषेः तद्रूपेण सह वर्तते यत् कलात्मकरूपेण चित्र्यते। ग्रीकभाषायाम् एतत्कृते 'इकन' (Elken) शब्दस्य प्रयोगः वर्तते। ऋग्वेदे[3] अपि प्रतिमा इत्यस्य कृते 'अर्चा' शब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। प्रतिमायाः प्रयोगो वस्तुतः तेषामेव आकृतीनां कृते क्रियते यत् केनापि धर्मेण सम्बन्धितो भवति। प्रतिमामाध्यमेन भक्ताः उपासकाश्च स्वकीयान् भक्तिपूर्णान् उद्गारान् इष्टेभ्यः आराध्येभ्यश्च समर्पयन्ति। द्विजेन्द्रनाथशुक्ल[4] महोदयेन भारतीयप्रतिमानां वर्गीकरणं त्रिधा कृतम्-

(i) ब्राह्मण-प्रतिमाः

(ii) बौद्धप्रतिमाः

(iii) जैनप्रतिमाः

एतासु प्रतिमासु ब्राह्मण-प्रतिमानां गोपीनाथ राव महोदयेन[5] पुनः त्रिषु प्रभेदेषु

---

1 उपाध्याय-वासुदेवशरण-प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृष्ठ 201-202

2 पाणिनि-अष्टाध्यायी, 5/3/96

3 ऋग्वेद 7/9/19

4 शुक्ल द्विजेन्द्रनाथ-भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ 194

5 टी.ए. गोपीनाथराव- एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकॉनोग्राफी, भाग-1, पृष्ठ 17

विभाजनं कृतम्–

(i) चलाः अचलाश्च प्रतिमाः (चलाचलप्रतिमाः)

(ii) पूर्णाः अपूर्णाः च प्रतिमाः (पूर्णापूर्णप्रतिमाः)

(iii) शान्ता अशान्ता च प्रतिमा : (शान्ताशान्तप्रतिमाः)

चलप्रतिमानां निर्माणाय तादृशानां द्रव्याणां प्रयोगो भवति, यल्लघुद्रव्यम्। यथा – स्वर्णरजतताम्रादि धातवः। अपि च इमाः प्रतिमाः अपेक्षाकृताः लघ्व्यः भवन्ति।

अचलप्रतिमानां निर्माणाय पाषाणानां प्रयोगः क्रियते येन इमाः स्थूलाः स्थावरप्रकृतियुक्ताः च दृश्यन्ते। इत्थं इमाः प्रतिमाः लम्बमानाः विशालाश्च भवन्ति।

चलाचलप्रतिमानां पुनः द्विधा विभाजनं कृतम्–

(1) चलप्रतिमाः

(a) कौतुकबेरः – पूजनार्थम्

(b) उत्सवबेरः – पर्वणि बाह्यगमनाय

(c) बलिबेरः – दैविकोपचारात्मकपूजायां प्रयोगार्थम्

(d) स्नपनबेरः – स्नानार्थम्

(2) अचलप्रतिमाः– इमाः प्रासादानां गर्भगृहे स्थाप्यते। सर्वदैव एकस्मिन्नेव स्थाने विद्यमानकारणाद् 'अचल' इति कथ्यते। एतासामपि मुख्यतः भेदत्रयं वर्तते[1]–

(1) स्थानकम्

(2) आसनम्

(3) शयनम्

प्रतिमाप्रासादयोः सम्बन्धः

व्यावहारिकरूपेण ज्ञायते यत् केवलं वैष्णवप्रतिमाः एव प्रदत्तासु मुद्रासु विभक्तुं शक्यते। अन्येषां देवीदेवतानां प्रतिमा न। सामान्यरूपेण एतासां मूर्तीनां वाहनस्य, आयुधस्य, मुद्रायाः, अलङ्कारणानां, भुजानां सङ्ख्यामाध्यमेनैव अभिधानं कर्तुं शक्यते। भारतीयमूर्तिकलायां देवदेवीनां प्रतिमाः पीठिकायां, सिंहासने, आसने, हस्ती–मृग–व्याघ्रचर्मसु, कमलपुष्पे, पद्मपत्रे, सुमेरूयुक्ते, पशूनामुपरि (गज–सिंह–अश्व–कृष्णमहिष–मृग–अज–शूकर–गर्दभ–शार्दूलादीना–मुपरि) पक्षिणां (मयूर–हंस–उल्लूक–गरुड़ादीनां) जलचराणां (मकर–मत्स्य–कच्छपप्रभृतीनां) उपरि उपवेशनमुद्रायां उत्थितमुद्रायां वा प्रदर्शयन्ते।[2]

आयुधम्– प्रतिमानां गुणाः शक्तयः च प्रदर्शयितुं तेषां हस्तायुधयोः उपयोगो भवति। एतस्य कृते बहुधा तेषां हस्तानां संख्या अपि वर्धिताः। हस्तेषु यानि वस्तुनि प्रदर्श्यन्ते तानि देवदेवीनां शक्तीनां, क्रियाणां, गुणानाञ्च प्रतीकानि भवन्ति। शिल्पशास्त्रीयग्रन्थानुसारं देवतानां 36 (षटत्रिंशत्) आयुधानि सन्ति। चक्रम्, त्रिशूलम्, वज्रः, धनुः, कृपाणः, गदा, अङ्कुशः, इषु, छुरिका, दण्डः, शक्तिः, मूसलः, परशुः, कुन्तः (भाला), रिष्टिका, खट्वाङ्ग, भुशुण्डीः, कर्तिका,

1. टी.ए. गोपीनाथ राव– एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दु आइकोनोग्राफी, पृष्ठ 17

2. अग्रवाल–गिरिराज किशोर– भारतीय मूर्त्तिकला, पृष्ठ 88

कपालः, सूची, खेटः, पाशः, सर्पः, हलः, मुद्गरः, शङ्खः, शृङ्गः, घण्टा, शत्रुशिरः, माला, पुस्तकम्, कमण्डलः, कमलम्, पानपत्रम्, योगमुद्रा[1] इमानि आयुधानि सन्ति।

वैष्णवसम्प्रदाये योगः, भोगः, वीरा, अभिचारिका चतुस्समुद्राः शैलाश्च एतेषाम् अपि प्रतिमाः निर्मीयन्ते।[2] प्रायशः उत्थितमूर्त्तीना मुख्यमुद्राः अधोलिखितरूपेण उपलभ्यन्ते-

(1) समापादः- उभयोः पादयोः समानरूपेण उत्थिताः।

(2) अभङ्गम्- इषत् वक्रस्थितौ उत्थितमुद्रायाम्।

(3) त्रिभङ्गम्- मस्तके, कटिभागे, पादयोः च वक्ररूपम्।

(4) अतिभङ्गम्- यस्मिन् शरीरस्य प्रत्येकमपि अवयवेषु वक्रता स्यात्।

एतदतिरिच्य कांश्चन् प्रतिमासु अन्याः अपि मुद्राः द्रष्टव्याः भवन्ति। देवी-देवताभ्यः सम्बन्धिताः हस्तमुद्राः अपि प्रमुखाः सन्ति।

(1) अभयः- दक्षिणहस्तस्य अङ्गुल्यः उद्घाटिताः।

(2) वरदः- दक्षिणहस्तस्य उद्घाटितः करतलः अधो भवेत्।

(3) ध्यानमुद्रा- उभयोः करतलयोः अङ्के एकस्योपरि अपरहस्तः इति मुद्रायाम्।

(4) ज्ञानमुद्रा-दक्षिणहस्तस्य तर्जनी तथा अङ्गुष्ठयोः मेलनरूपम्।

प्रतिमासु देवी-देवतानां उपवेशनासनानि अपि भिन्नानि सन्ति। सर्वाधिकं महत्त्वपूर्णम् आसनं पद्मासनं मन्यते। एतस्मिन् सम्यगुपविश्य दक्षिणपादं वामपादस्य जघने तथा वामपादं दक्षिणजङ्घायां दृढ़ीकृत्य एतादृशं स्थाप्यते यत् पादयोः तलौ कटिभागं स्पृशतः। देवताः मनुष्यप्रजातिभ्यः श्रेष्ठाः स्वीक्रियन्ते। अतः तेषां बहवः हस्ताः शिरांसि च प्रकल्प्यन्ते।

आभूषणानि तथा वस्त्राणि - देवतानाम् अभिज्ञानं क्वचित् तेषां वस्त्रैः क्वा. चच्च आभूषणैः अलङ्करणैश्च भवति। यथा विष्णुप्रतिमा कौस्तुभमणिना युक्ता भवति। हिन्दूस्थापत्यकलायां प्रतिमाः विविधैः आभूषणैः वस्त्रैश्च सज्जीक्रियन्ते, एषा परम्परा अतीवप्राचीना वर्तते। वराहमिहिरेण बृहत्संहितायां लिखितम्-

देशानुरूपभूषणवेशालङ्कारमूर्तिभिः कार्या।
प्रतिमा लक्षणयुक्ता सन्निहिता वृद्धिदा भवति।।[3]

देशः कालः, वर्णाश्रमव्यवस्था चैतेषाम् अनुसारम् आभूषणानां वस्त्राणाञ्च या पद्धतिः मनुष्येषु प्रचलिता तादृगेव देवानां देवीनाञ्चापि परिकल्पना विहिता। ब्रह्माणं ब्रह्मचारीरूपेण, शिवं संन्यासीरूपेण, विष्णुं राज्ञः रूपेण स्थापित-करणस्य प्रथा दृश्यते।[4]

विभिन्नदेवतानां प्रतिमास्थापनम् - हिन्दूधर्मस्य प्रमुखानां देवी-देवतानां प्रतिमाः प्रायः सम्प्रदायद्वयेन सह सम्बन्धिताः सन्ति वैष्णवः शैवश्च। एतेषाम् अतिरिच्य गणेश-दुर्गादिदेवतानां सम्प्रदायानाम् अपि पृथक्-पृथक् प्रतिमाः उपलभ्यन्ते।

---

1. शुक्ल-द्विजेन्द्रनाथ- भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ 232
2. वही, पृष्ठ 229
3. बृहत्संहिता, प्रतिमालक्षणाध्याय, पद्य-29
4. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ- भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ 235

प्रासादमण्डने देवी-देवतानां स्थापनविषये कथितं यद् गणेशः, भैरवः, चण्डी, नकुलीशः, नवग्रहः, मातृदेवता, कुबेरश्च दक्षिणाभिमुखं कृत्वा स्थापयेयुः। इत्थमेव वानरेश्वरस्य हनुमतः मुखं नैऋत्याभिमुखं स्थापयेत्। अन्यः कोऽपि देवः नैऋत्याभिमुखो न भवति। ब्रह्मा, विष्णुः, शिवः, इन्द्रः, सूर्यः, कार्तिकेयश्च पूर्वाभिमुखं पश्चिमाभिमुखं च वर्तन्ते। एतान् कदापि दक्षिणोत्तराभिमुखं न स्थापयेत्।[1]

पूर्वपरास्यदेवानां कुर्यान्नो दक्षिणोत्तरम्।
ब्रह्मविष्णुशिवार्केन्द्र-गुहाः पूर्वापराङ्मुखाः॥
नगराभिमुखाः श्रेष्ठा मध्ये ब्राह्मे च देवताः।
गणेशो धनदो लक्ष्मीः पुरद्वारे सुखावहाः॥
विघ्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशो ग्रहास्तथा,
मातरो धनदश्चैव शुभा दक्षिणदिङ्मुखाः॥
नैर्ऋत्याभिमुखः कार्यो हनुमान् वानरेश्वरः।
अन्ये विदिङ्मुखा देवा न कर्त्तव्याः कदाचन॥

सजातीयाः देवाः परस्परं सम्मुखं स्थापयितुं शक्यन्ते। चण्डिकादिदेवीनां समक्षे मातृदेवता-यक्ष-क्षेत्रपाल-भैरवादयः देवानां स्थापनां कर्तुं शक्यते। ब्रह्मणः विष्णोश्च देवालयः परस्परं सम्मुखं भवति चेद् दोषो न भवति परन्तु भगवतः शिवस्य सम्मुखस्थः न कोऽपि अन्यो देवः शास्त्रसम्मतः।

देवप्रासादस्य जलनिकासः

पूर्वाभिमुखस्य पश्चिमाभिमुखस्य च प्रासादस्य नलिका उत्तरदिशि शुभा। उत्तराभिमुखस्य दक्षिणाभिमुखस्य च प्रासादस्य नलिका पूर्वस्मिन् दिशि श्रेयस्करी भवति। यदि कस्मिञ्चत् मण्डपे नैके देवाः स्थापिताः तदा मूलदेवस्य (प्रमुखदेवस्य) वामभागस्य देवस्य नलिका वामभागे तथा दक्षिणभागस्य देवस्य नलिका दक्षिणभागे कारयेत्।

देवपञ्चायतनम् -

प्रासादमण्डने कथितं यत् सूर्यस्य पञ्चायतनस्य-मध्यभागे सूर्यः, तस्य प्रदक्षिणक्रमे गणेशः, विष्णुः, चण्डीदेवी, महादेवश्च स्थापयेयुः। एतैः सह एव नवग्रहाणां, द्वादश गणानां च स्थापना भवति। गणेशस्य पञ्चायतनमध्ये गणेशः, अस्य प्रदक्षिणक्रमे चण्डीदेवी, महादेवः, विष्णुः सूर्यश्च शास्त्रानुसारं भवेयुः। अत्रैव द्वादशगणानां च स्थापनं कुर्यात्। विष्णोः पञ्चायतनमध्ये विष्णुं स्थापयित्वा प्रदक्षिणक्रमे गणेशः, सूर्यः, अम्बिका, शिवश्चैतान् स्थापयेयुः। एतैः सह एव गोपीनाम् अवताराणाञ्च मूर्तिभिः सह द्वारकानगरीमपि स्थापयेत्। चण्डीदेव्याः पञ्चायतने प्रमुखस्थाने सा स्वयं तिष्ठति ततः प्रदक्षिणक्रमेण महादेवः, गणेशः, सूर्यः, विष्णुश्चैतान् स्थापयेयुः। अपि च तत्र मातृदेव्याः चतुःषष्ठियोगिन्यादिदेवीनां भैरवादिदेवानां

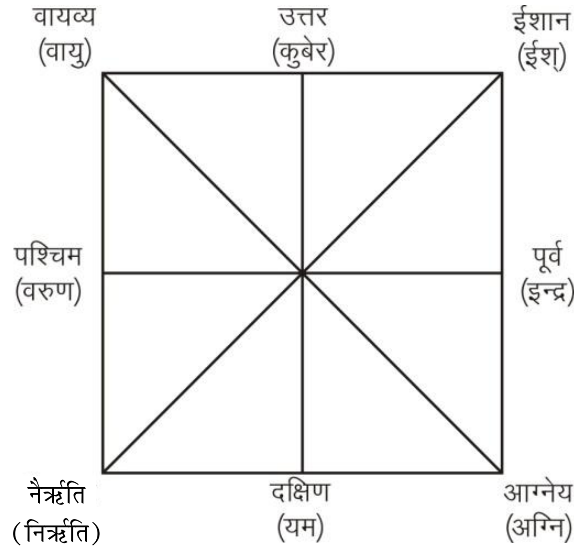
1. प्रासादमण्डनम्- द्वितीयोऽध्याय, पृष्ठ 36-37

मूर्तय: अपि स्थापयेयु:।

दिक्पाला:

धार्मिकवास्तुशास्त्रस्य सिद्धान्तानुसारं मन्दिरस्य (देवप्रासादस्य) निर्माणकाले दिक्पालदेवतानां महत्त्वपूर्णा भूमिका भवति। वास्तुशास्त्रे प्रमुखरूपेण दशदिशां विषये उल्लेख: प्राप्यते। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणदिश अतिरिच्य चतुर्षु कोणेषु अर्थात् पूर्वोत्तरयोर्मध्ये ईशान:, दक्षिणपूर्वयोर्मध्ये आग्नेय:, दक्षिणपश्चिमयोर्मध्ये नैर्ऋत्य:, पश्चिमोत्तरयोर्मध्ये वायव्य: तथा आकाश: पातालश्च इमा: दिश: वर्तन्ते। प्रत्येकम् अपि दिशां एक: प्रमुखो देवो भवति स: एव दिक्पालनाम्ना प्रसिद्ध:।

आकाशस्य देवता ब्रह्मा, पातालस्य च देव: शेषनाग: (अनन्त:) कथित:। भैरव: क्षेत्रपालरूपेणापि ज्ञायते। एतेषां मूर्त्तय: मण्डोवरस्य जघनि अन्याभि: देवीदेवताभि: सह एव स्थाप्यन्ते।[1]



नवग्रहा:

देवप्रासादे नवग्रहाणां मूर्तय: स्तम्भेषु, आसनेषु वितानादिषु च स्थाप्यन्ते। प्राचीनेषु मन्दिरेषु एते मन्दिरस्य द्वारस्य उपरि उत वा अन्यत्र कुत्रचित् पृथक्-पृथक् स्थानेषु अथवा एकस्यामेव पङ्क्तौ स्थापिता: प्राप्यन्ते। नवग्रहेषु सर्वादौ प्रमुखरूपेण सूर्य:। जैनबौद्ध-धर्मावलम्बिजना: अपि सूर्याय महत्त्वं प्रयच्छन्ति। देशस्य अनेकेषु जैनबौद्धगुहासु सूर्यस्य प्रतिमा: प्राप्यन्ते। बृहत्संहितायां सूर्य: उदीच्यवेशधारी च निरूपित: -

1. रूपमण्डनम्- भूमिका, पृष्ठ 44/45

नासाललाटजङ्घोरुगण्डवक्षांसि चोन्नतानि रवेः
कुर्यादुदीच्यवेषं गूढ़पादादुरो यावत्।।[1]

रूपमण्डने सूर्यस्य प्रतिमा रथयुक्ता[2] कथिता। द्विभुजप्रतिमायां सूर्यः श्वेतपङ्कजहस्तः, धृतरक्तवस्त्रः वर्तुलः तेजसः बिम्बस्य मध्यस्थोऽपि वर्णितः -

सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम्।
द्विभुजञ्चैकवस्त्रञ्च श्वेतपङ्कजधृत्करम्।
वर्तुलं तेजसो विम्बं मध्यस्थं रक्तवाससम्
आदित्यस्य त्विदं रूपं कुर्यात् पापप्रणाशनम्।।[3]

तथैव सोमादिग्रहाणामपि मूर्तीनां वर्णनं रूपमण्डने प्राप्यते। अनेन प्रकारेण शास्त्रसम्मतरीत्या प्रासादेषु स्थापनाय प्रतिमानां निर्माणं कार्यम्। येन निश्चितरूपेण शुभं फलं भक्तजनाः प्राप्नुवन्ति।

---

1 बृहत्संहिता- प्रतिमालक्षणाध्यायः, श्लोक-46

2 रूपमण्डनम् 2/22

3 तत्रैव 2/18-19

वराहमिहिरानुसारेण वास्तुभूमेः शुभाशुभत्वम्

बालमुकुन्द झा

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदमित्यनेन विश्वकर्मणो मतमिदं यद्गृहं स्त्रीपुत्रादीनां भोगप्रदं, धर्मार्थकामप्रदायकं च भवति। अतः सर्वेषां कृते गृहनिर्माणं सुखास्पदं भवति। कुत्र कस्यां भूमौ गृहनिर्माणं सुखास्पदं भवतीति विषये वास्तुशास्त्रे विशिष्टं वचनं प्राप्यते। विकारयुता भूमिः न सौख्यदा भवति। भगवता श्रीकृष्णेनापि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविचारक्रम एवं वचनं निगदितं यथा -

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥[1]

अतो क्षेत्रस्याज्ञाते वासः न कर्त्तव्यः यतः क्षेत्रमेव मानवस्य शरीरम्। वास्तुनरस्य यथा प्रविभागो भवति तथैव नगरग्रामेष्वेवमेव विभागः कथयति वराहः यथा -

गृहनगरग्रामेषु च सर्वत्रैवं प्रतिष्ठिता देवाः।
तेषु च यथानुरूपं वर्णा विप्रादयो वास्याः॥[2]

गृहे वेश्मनि नगरे ग्रामे चैतेष्वपि सर्वस्मिन् देशे देवाः प्रतिष्ठिताः परिकल्पिताः। यथा गृहे वास्तुनरस्य परिकल्पना भवति तथैव नगरे ग्रामे च। तेषु ग्रामेषु विप्रादयो अर्थात् ब्राह्मणाद्या वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा यथाक्रमं विवासनीयाः। यत्र दिग्भागे यस्योचितं तत्र वासयेदिति। कथमिति तत्प्रतिपादयन् कथयति वराहः यथा-

वासगृहाणि च विन्द्याद्विप्रादीनामुदग्दिगाद्यानि।
विशतां च यथा भवनं भवन्ति तान्येव दक्षिणतः॥[3]

गृहे चतुःशाले ग्रामे नगरे वा ब्राह्मणानामुत्तरस्यां दिशि वासगृहाणि कार्याणि। पूर्वस्यां क्षत्रियाणां, दक्षिणस्यां वैश्यानां, पश्चिमायाञ्च शूद्राणामिति। गृहाणि एवमेव कार्याणि यथा भवनं गृहाभ्यन्तरतमं विशतां तान्येव वासगृहाणि दक्षिणस्यां दिशि भवन्ति।

प्राङ्मुखस्य द्वारमुत्तराभिमुखं कार्यम्।
दक्षिणाभिमुखस्य प्राङ्मुखम्।

---

1. गीता अ- 14, श्लो- 1।
2. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 67।
3. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 68।

पश्चिमाभिमुखस्य दक्षिणाभिमुखम्।
एवमुत्तराभिमुखस्य पश्चिमाभिमुखमिति।।[1]

यानि चतुर्दिक्षु द्वाराण्युक्तानि तेषां शुभाशुभफलं कथितम्। यथा पूर्वदिशि द्वारशुभाशुभफलम्–

अनिलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधपरतानृतत्वं क्रौर्यं चौर्यं च पूर्वेण।।[2]

शिखिसंज्ञे वायुभीतिर्भवति। एवं कन्याजन्मपर्जन्ये, प्रभूतधनता जयन्ते। इन्द्रे नृपवाल्लभ्यं, क्रोधशीलता सूर्ये। असत्यभाषित्वं सत्ये, क्रूरता भृशे, अन्तरिक्षे तस्करत्वम्। एवं शिखितः अन्तरिक्षपर्यन्तम् अष्टौ देवाः पूर्वस्यां दिशि अवस्थिता भवन्ति। अथ दक्षिणस्यां दिशि यथा शुभाशुभफलम्–

अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धिः।
रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन।।[3]

अनिलतः मृगपर्यन्तमष्टौ देवा अवस्थिता भवन्ति दक्षिणस्यां भूमौ। तेषु अनिलस्योपरि द्वारे सति अल्पपुत्रत्वं, पौष्णे द्वारे दासत्वं, वितथोपरि द्वारे नीचत्वं याति। बृहत्क्षते भोजन–पानवस्तु–पुत्राणां च वृद्धिर्भवति। याम्ये द्वारे रौद्रं, गन्धर्वपदे द्वारे कृतघ्नं, भृङ्गराजे अधनं मृगस्योपरि द्वारे सति पुत्रबलविनाशो भवति।पश्चिमस्यां दिशि शुभाशुभफलं यथा–

सुतपीड़ारिपुवृद्धिर्न सुतधनाप्तिः सुतार्थफलसम्पत्।
धनसम्पतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे।।[4]

पितृतः पापयक्ष्मा पर्यन्तमष्टौ देवा अवस्थिता पश्चिमस्यां भूमौ। तेषु पितृपदे पुत्रव्यथा, द्वौवारिके शत्रुबाहुल्यम्, सुग्रीवे पुत्रधनवाप्तिः कुसुमदन्ते पुत्रधनफलसम्पत्तिः, वारूणे धनानां सम्पत्, असुरे राजभीतिः, शोषे धनक्षयः, पापयक्ष्माख्ये च रोगो भवति। एवं प्रकारेण पश्चिमस्यां दिशि यस्य वर्णस्य गृहनिर्माणं शुभं भवति तत्कृते एव सर्वं ज्ञानमपेक्षितं भवति। अथोत्तरस्यां दिशि शुभाशुभफलम्–

वधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुण सम्यत्।
पुत्रधनाप्तिर्वैर सुतेन दोषाः स्त्रिया नैःस्वम्।।[5]

1. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 70।
2. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 71
3.
4. बृहत्संहिता वास्तुवि अ–, श्लो– 72
5. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ–, श्लो– 73

उत्तरस्यां दिशि दितितः अष्टौ देवा अवस्थिता भवन्ति (सन्ति)। तेषु देवेषु रोगाख्ये मृत्युः बन्धनं च, सर्पे द्वारे शत्रुवृद्धिः, मुख्योपरि द्वारे पुत्रधनप्राप्तिः, भल्लाटे सम्पूर्णशौर्यादि गुणानां सम्पत्तिः, सोमे द्वारे पुत्रद्वेषः, अदिति उपरि द्वारे स्त्रीद्वेषं तथा दितेरुपरि द्वारे निर्धनता भवति। एवं वर्णपरत्वेन उत्तरस्यां दिशि शुभाशुभं भवति।

अथ प्रशस्तभूलक्षणं कथितमाचार्यवराहेणैतादृशम्-

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा
स्निग्धं समा न सुषिरा च महीनराणाम्।
अप्यध्वनिः श्रमविनोदमुपागतानां
धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।।[1]

प्रशस्तौषधि-द्रुमलतायुता भूमिः मधुरा, स्निग्धा सुरभिगन्धा, समलता, परिश्रमापहरण-प्रभावयुता भूमि धनधान्यादिकं सुखं च प्रददाति। अथ गृहेऽशुभफलं कथितं वराहेण यथा-

सचिवालयेऽर्थनाशो धूर्तगृहे सुतवधः समीपस्थे।
उद्वेगो देवकुले चतुष्पदे भवति चाकीर्तिः।।
चैत्ये भयं ग्रहकृतं वल्मीकश्वभ्रसंकुले विपदः।
गर्त्तायां तु विपासा कूर्माकारे धनविनाशः।।[2]

गृहसमीपे मन्त्रिणः गृहं यदि भवेत्तदा धननाशो भवति। धूर्त्तस्य गृहे सति पुत्रनाशः, देवगृहे चित्तवैकल्यं, चतुष्पदे सति अकीर्तिः, प्रधानवृक्षे सति ग्रहभयं, दीमकयुता वा पीता भूमिः गृहसमीपे स्यात्तदा गृहस्वामिनोपरि आपत्तिः समायाति, गृहसमीपे गर्तायां विपासा, कच्छपसदृशा भूमिः धननाशं च करोति। अथापरं भूमिलक्षणं कथयति वराहः यथा-

उदगादिप्लवमिष्टं विप्रादीनां प्रदक्षिणेनैव।
विप्रः सर्वत्र वसेदनुवर्णमथेष्टमन्येषाम्।।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणामुदगादिप्लवं प्रदक्षिणेन भूभागेन शुभं भवति। प्लवत्वं निम्नत्वमिति। तद्यथा - उत्तरदिशि प्लवा भूमि ब्राह्मणानां प्रशस्ता। पूर्वप्लवा क्षत्रियाणां, दक्षिणाप्लवा वैश्यानां, पश्चिमप्लवाश्च शूद्राणां कृते शुभा भवति। अतोऽत्र वर्णानुक्रमेण शोभनम्। ब्राह्मणाः सर्वस्यां भूमौ सर्वासु दिक्षु वसेदिति। भूमेर्विधानवशेन शुभाशुभफलं यथा-

1. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 86
2. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 87-88।

गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम्।
यद्यूनमनिष्टं तत् समे समं धन्यमधिकं यत्।।[1]

स्वस्तिवाचनपूर्वकं वास्तुदेवपूजनं च कृत्वा भूखण्डस्य मध्ये एकहस्तप्रमाणस्य गर्त्तं खनेत्। तस्मात् गर्तात् निस्सारितां मृत्तिकां पुनस्तस्मिन्नेव गर्त्ते क्षिपेत्। मृत्तिका यदि स्वल्पा भवति तदा निवासयोग्या भूमिर्न भवति। यदि मृत्तिका अवशिष्टा स्यात्तदा सा भूमिः शुभा भवति। इदमेवात्युत्तमभूमिलक्षणम्। अथान्यदपि शुभाशुभफलं यथा-

श्वभ्रमथवाम्बुपूर्णं पदशतमित्वा गतस्य यदि नोनम्।
तद्धन्यं यच्च भवेत् पलान्यपामाढ़कं चतुः षष्टिः।।[2]

भूखण्डे एकहस्तपरिमाणं गर्त्तं खनेत्। तस्मिन् गर्त्ते जलं प्रपूर्य पूर्वाभिमुखं शतपदं गच्छेत्। पुनरागते सति यदि जलं तावदेव स्यात्तदा सा भूमिः सर्वकामसिद्धिदात्री भवति। यदि जलं स्वल्पमवशिष्येत्तदा मध्यमा भूमिः, जलमतीवाल्पं यदि स्यात्तदा सा भूमिरधमा कथ्यते।

अपि चैका विधिः वराहेण कथितः यत् तत्रत्या रजसा एकाढ़कप्रमाणतुल्यं भाण्डं प्रपूर्य, पुनश्च तूलिते सति यदि चतुःषष्टिपलप्रमाणतुल्यं भवेत्तदा सा भूमिः शुभा भवति।

अन्यदायाह वराहः यथा-

आमे वा मृत्पात्रे श्वभ्रस्थे दीपवर्त्तिरभ्यधिकम्।
ज्वलति दिशि यस्य शस्ता सा भूमिस्तस्य वर्णस्य।।[3]

अपक्वे मृत्पात्रे मृण्मये भाण्डे श्वभ्रान्तरगते, तत्र वर्णानां चिह्नैः अङ्किताः चतस्रो दीपवर्त्तिकाः ज्वालयेत्। यस्य वर्णस्य दिश्यधिकं चिरकाल पर्यन्तं दीपवर्ती ज्वलति तस्यैव वर्णस्य सा भूमिः शुभा भवति नान्यस्येति। एवं सर्वे विधयः विश्वकर्माप्रकाशेऽपि पठिताः सन्ति यथा-

निखनेद्धस्तमात्रेण पुनस्तेनैव पूरयेत्।
पांशुनाधिकमध्योना श्रेष्ठा मध्याधमा क्रमात्।।
जलेनापूरयेच्छ्वभ्रं शीघ्रं गत्वा पदैः शतम्।
तत्रैवागत्य वीक्षेत न हीनसलिला शुभा।।
अरत्निमात्रे श्वभ्रं वा ह्यनुलिप्ते च सर्वतः।
घृतमामशरावस्थं कृत्वावर्त्ति चतुष्टयम्।।
ज्वालयेद् भूपरीक्षार्थं सम्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्।
दीप्ताः पूर्वादि गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः।।[4]

1. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 89।
2. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 90।
3. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 91।
4. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 92।

अतो गृहनिर्माणपूर्वं भूमिपरीक्षणं परमावश्यकं भवति। कथितं यथा विश्वकर्मणा-

हलाकृष्टे तथोद्देशे सर्वबीजानि वापयेत्।
त्रिपञ्चसप्त रात्रेण न प्ररोहन्ति तान्यपि॥
उप्तबीजा त्रिरात्रेण सांकुरा शोभना मही।
मध्यमा पञ्चरात्रेण सप्तरात्रेण निन्दिता॥
तिलान् वा वापयेत्तत्र यवांश्चापि सर्षपान्।
अथवा सर्वधान्यानि वापयेच्च समन्ततेः॥
यत्र नैव प्ररोहन्ति वा प्रयत्नैर्वर्जयेत्।
ब्रीह्यः शालयो मुद्ग ा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः॥
यवाश्चौषधयः सप्त सर्वबीजानि चैव हि।
सुवर्णताम्रपुष्पाणि श्वभ्रमध्यगतानि च॥
यस्य नाम्नि समायान्ति सा भूमिस्तस्य शोभना॥[1]

यत्र गृहनिर्माणं करणीयं तस्यां भूमौ हलेन कर्षणं कृत्वा बीजानि वपेत्। यदि बीजानि त्रिषु पञ्चषु सप्तसु वा दिनेषु अंकुरितानि न स्युः, तदा सा भूमिः अशुभा भवति। त्रिषु रात्रिषु अंकुरितानि यदि स्युः तदा सा भूमिः श्रेष्ठा भवति। यत्र सप्तसु रात्रिषु अंकुरितानि स्युः सा भूमिः अधमा कथिता।

लङ्काधिपतिरावणस्य श्वसुरः मयदानवः आसीत्। तस्य लिखितो मयमतग्रन्थो विद्यते। अस्मिन्प्रसङ्गे तस्याभिमतमेतादृशम्-

देवानां तु द्विजातीनां चतुराम्नायताः श्रुताः।
वस्त्वाकृतिरनिन्द्या सावाक्प्रत्यग्दिक्समुन्नता॥
हयेभवेणुवीणाब्धि दुन्दुभिध्वनि संयुता।
पुनर्गजातिपुष्पाब्जधान्यपाटलगन्धकैः॥[2]

देवानां ब्राह्मणानां च कृते आयताकारा भूमिः शुभा भवति। भूमिराकृतिः निन्दनीया न भवितव्या। शुभा भूमिः दक्षिणस्यां प्रतीच्यां चोच्चैः भवितव्या। एकवर्णा सघना कोमला च भूमिः प्रशस्ता भवति। कथितं च यथा-

पशुगन्धा समाश्रेष्ठा सर्वबीजप्ररोहिणी।
एकवर्णा घना स्निग्धा सुखसंस्पर्शनान्विता॥[3]

---

1. बृहत्संहिता, वास्तुवि अ-, श्लो- 92।
2. विश्वकर्माप्रकाश अ-, श्लो- 61-64
3. विश्वकर्माप्रकाश अ-, श्लो- 65-69

समस्थलायां यस्यां भूमौ विल्वनिम्बनिर्गुण्डिपिण्डिलसप्तपर्ण-सहकाराश्चैमे वृक्षा फलिता भवेयुः सा भूमिः शुभा भवति। श्वेतवर्णा, रक्त-पीता-कपोतसदृशवर्णा, स्वादे च तिक्ता कटुका कषाया जलधारायुता च भूमिः प्रशस्ता शुभा भवति। यथोक्तम् -

विल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डिलः सप्तपर्णकः।
सहकारैश्च षड्वृक्षैरारूढा या समस्थला॥
श्वेता रक्ता च पीता च कृष्णा कापोतसिन्नभा।
तिक्ता च कटुका चैव काषायलवणाम्लका॥
मधुरा षड्रसोपेता सर्वसम्पत्करी धरा।
प्रदक्षिणोदेकवती वर्णगन्धरसैः शुभा॥[1]

अपि च कथितमुत्तमं भूमिलक्षणं यथा -

श्वेतासृक्पीतकृष्णा हयगजनिनदा षड्रसा चैकवर्णा।
गोधान्याम्भोजगन्धोपलतुषरहिता वाक्प्रतीच्च्युन्नतिया॥
पूर्वोदग्वारिसारा परसुरभिसमा शूलहीनास्थिवर्ज्या।
सा भूमिः सर्वयोग्या कणदररहिता सम्मताद्यैमुनीन्द्रैः॥[2]

श्वेतरक्तपीतकृष्णाश्च या भूमिः, अश्वगजनिनादयुता या भूमिः, मधुराम्ललवण-कटुकषायेति षड्रसस्वादयुता, एकवर्णा, गोधान्यकमलगन्धयुता, पाषाणतुषादिरहिता, दक्षिणस्यां प्रतीच्यां चोन्नता, पूर्वात्तरस्यां चावनता शूलास्थिरहिता, रज-सिकता शून्या भूमिश्च सर्वेषां कृते अनुकूला भवतीति मुनिभिर्गदिता॥

या भूमिः दधिधृतमधुतैलरक्तगन्धयुता भवेत् सा भूमिः सर्वेषां वर्णानां कृते प्रशस्ता शुभदा भवति। उक्तं च यथा-

सा शुभा सर्ववर्णानां सर्वसम्पत्करी तथा।
दध्याज्यमधु गन्धा च तैलासृग्गन्धिका च या॥[3]

अत्र शुभाशुभभूमिज्ञानार्थं वराहस्यैको विधिः यथा-

श्वभ्रोषितं न कुसुमं यस्य प्रम्लायतेनुवर्णसमम्।
तत्तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनोरमते॥[4]

अनेन प्रकारेण संक्षेपरूपेण वराहमिहिरानुसारेण प्रशस्तवास्तुभूमेः स्वरूपं निरूपितम्। वर्णानुसारं प्रशस्तभूमेः उपरि गृहनिर्माणं सदा करणीयं तदैव सुखं समृद्धिश्च जायेते इति।

1. मयमतम् अ-3, श्लो- 1-2
2. मयमतम् अ-3, श्लो- 3।
3.
4. मयमतम् अ-3, श्लो- 4-6।

वास्तुपदस्थदेवतानां शुभाशुभत्वविमर्शः

मृत्युञ्जयत्रिपाठी

वास्तुपदचक्रे याः देवताः स्थिताः सन्ति, तासां शुभाशुभत्वं प्रायः तासां नामानुसारेणैव भवति। अस्मिन् सन्दर्भे ध्यातव्यं यद्देवतानां गुणस्वभावाद्यनुसारेणैव तादृशं गुणधर्मनिर्माणं वास्तुशास्त्राचार्याः निर्दिशन्ति। तत्रापि प्रायः देवतानां स्वभावाद्यनुगुणं तासां शुभाशुभत्वं जानीयात्। अत्र वास्तुपदस्थदेवतानां स्वरूपाणि प्रदर्श्यन्ते –

1. शिखी – वास्तुचक्रस्य बाह्यपदेषु ईशानकोणे कर्पूरधवलश्वेतवर्णः शिखिनः अग्नेर्वा स्वरूपं कथितमस्ति। अस्य भार्या स्वाहा यज्ञमयाग्नेः आहुतिमन्त्ररूपे सुप्रतिष्ठितास्ति। शिखी त्रिनेत्रधरः चतुर्हस्तेषु माला-स्रुव-डमरु-त्रिशूलान् धत्ते। पञ्चमहाभूतेषु अग्नितत्त्वस्य प्रथमस्वरूपं शिखिनाम्ना प्रसिद्धः।[1] अयं शिवस्य एकं स्वरूपमप्यस्ति। अतः कालिदासः कथयति अभिज्ञानशाकुन्तले –

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतमिति।[2]

अतः शिवरूपत्वादयं वरत्रिशूलहस्तः धर्मरूपवृषे आरूढश्चास्ति। अयमेवाग्निः वास्तुनः शिरसि ज्ञानाग्निरूपेऽवस्थितः। अयं शुभदेवरूपे भारतीयपरम्परायां सुपूजितोऽस्ति। परन्तु रुष्टः कष्टप्रदोऽप्यस्ति। समरांगणसूत्रधारे अग्निरेव शंकरः कथितः। यथोक्तं तत्र –

योऽयं वह्निरिहोक्तः स सर्वभूतहरो हरः।।[3]

2. पर्जन्यः – वास्तुचक्रे पूर्वदिशि शिखीतः दक्षिणं प्रति द्वितीयपदे वास्तुपुरुषस्य नेत्रस्थानीयः पर्जन्यः जलतत्त्वस्य प्रतीकः। जलजन्तूनां मुख्यनायकोऽयं पाशहस्तः वरप्रदः कुम्भीरथारूढः नौस्थो वा विद्युद्युतः नानावर्णावेष्टितः ज्योतिर्भूतः मेघानामात्मरूपो वर्तते।[4] अयं शुभदेवरूपे भारतीयपरम्परायां सुपूजितोऽस्ति। समरांगणसूत्रधारे पर्जन्यः वृष्टिमान्नम्बुदाधिपवर्षदेवः कथितः।[5]

3. जयन्तः – वास्तुचक्रे पूर्वदिशि पर्जन्यतः दक्षिणस्थपदे वास्तुदेवस्य श्रवणस्थानीयः जयन्तः वृष्टिदेवतायाः इन्द्रस्य पुत्ररूपे पूजितो भवति। अयं मुद्रिकाकङ्कणादिसर्वाभरणभूषितः,

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 1
2. अभिज्ञानशाकुन्तल मंगलाचरणम्
3. समरांगणसूत्रधार 14/14
4. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 2
5. समरांगणसूत्रधार 14/14

वरदाभहस्तः, जटिलः, श्मश्रुयुतः, शान्तः, कमण्डल्वक्षसूत्रभृत्, गौरवर्णः, कमलासनश्चास्ति।[1] अयं शुभदेवरूपे भारतीयपरम्परायां सुपूजितोऽस्ति। समराङ्गणसूत्रधारे जयन्तः कश्यपः भगवानृषिश्च कथितः।[2]

4. इन्द्रः – वास्तुचक्रविन्यासे पूर्वदिशि जयन्ततः दक्षिणदिशि वास्तुपुरुषस्य स्कन्धस्थाने वज्रायुधहस्तः इन्द्रः राक्षसादिबलनिषूदनः सहस्राक्षः ऐरावतसमारूढः शचीपतिः देवानामधिपतिश्चास्ति। अयं पीतवर्णः अक्षधरश्चाप्यस्ति।[3] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति। समराङ्गणसूत्रधारे महेन्द्ररेव दनुजानां विमर्दकः देवराजः इन्द्रः कथितः।[4]

5. सूर्यः – वास्तुपदविन्यासे पूर्वदिशि इन्द्रतः दक्षिणे वास्तुपुरुषस्य दक्षिणांसे भुजायां वा सूर्यदेवता शोभते। तीव्रकिरणयुतः कलिङ्गदेशोद्भवः कश्यपपुत्रः रक्तवर्णः सप्ताश्वरथगः सप्तकिरणयुक्तः द्विभुजः पद्महस्तः त्रैलोक्यतिमिरापहः सर्वसौख्यप्रदाता कर्मसाक्षीश्वरोऽयं निगदितः। अयं सूर्यो ग्रहाध्यक्षो वर्तते।[5] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति, परन्तु ज्योतिश्शास्त्रे क्रूरग्रहरूपे निगदितः। समराङ्गणसूत्रधारे सूर्यरेव विवस्वान् अहस्करः आदित्यश्च कथितः।[6]

6. सत्यदेवता – वास्तुचक्रे पूर्वदिशि सूर्यात् दक्षिणस्थाने वास्तुपुरुषस्य दक्षिणप्रबाहौ **सत्यदेवता** परब्रह्मणः प्रतीकः। अयं पुण्ययुक्तः, अकल्मषः, पद्महस्तः, महाबाहुः, वरदाभयहस्तः, निर्मलः, शुभः, ज्ञानमुद्राधरः ब्रह्मचिन्तने निमग्नः भूतहितः धर्मस्वरूपश्च वर्तते।[7] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति। समराङ्गणसूत्रधारे सत्यदेवः धर्मरेव कथितः।[8]

7. भृशः – वास्तुपदविन्यासे पूर्वदिशि सत्याद् दक्षिणस्थाने वास्तुपुरुषस्य दक्षिणबाहौ स्थितः भृशः कामपुरुषार्थस्य प्रतीकरूपः। भुवनत्रये सञ्चरणशीलोऽयं देवः कामदेवरूपः। अयं वरदहस्तः अभीष्टप्रदायकः पुष्पविमानस्थः हस्ते पुष्पधनुर्युतः गौरवर्णः नादरतः आदिदेवः।[9] समरांगणसूत्रधारे भृशः भूतहितः कामदेवः कथितः।[10] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 3
2. समरांगणसूत्रधार 14/15
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 4
4. समरांगणसूत्रधार 14/15
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 5
6. समरांगणसूत्रधार 14/16
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 6
8. समरांगणसूत्रधार 14/16
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 7
10. समरांगणसूत्रधार 14/16

8. आकाशः- वास्तुचक्रे पूर्वदिशि भृशतः दक्षिणपदस्थः वास्तुपुरुषस्य दक्षिणबाहुस्थाने आकाशदेव आकाशतत्त्वस्य प्रतीकः। अयं विष्णुपदः अनन्तकश्च। अस्मिन् सर्वे देवाः यक्षा ग्रहादयः सुप्रतिष्ठिताः। अयं शंखचक्रधरः असितवर्णः स्वस्तिकासनः शब्दयुतः सर्वगतः व्योम च वर्णितः।[1] समरांगणसूत्रधारे आकाशः अन्तरिक्षः नभश्च समुदाहृतः।[2] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति।

9. वायुदेवः - वास्तुमण्डले अग्निकोणे आकाशतः दक्षिणपदे वास्तुपुरुषस्य दक्षिणबाहुदण्डे वायुदेवः संस्थितः। अयं धनुर्युक्तः मृगारूढः जगत्प्राणः चलः युवा अंकुशध्वजधरश्चास्ति।[3] समराङ्गणसूत्रधारे मारुतः वायुः समुदाहृतः।[4] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति।

10. पूषा - वास्तुपदविन्यासे दक्षिणदिशि वायुपदादधो वास्तुपुरुषस्य मणिबन्धे पूषन्देवः अग्नितत्त्वस्य शक्तिः विद्युतः प्रतीकः। अयं पद्महस्तः वरप्रदः रक्तवस्त्रः विद्युदवर्णः महाबलश्चास्ति। अपि चायं महास्वनः शोणवर्णः द्विभुजाब्जकमण्डलुः गजवाहनः शुभ्रश्चास्ति।[5] समरांगणसूत्रधारे पूषा मातृगणः कथितः।[6] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे सुपूजितोऽस्ति।

11. वितथः - वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि पूषातः अधःस्थानीयः वास्तुदेवस्य दक्षिणपार्श्वे वितथः। अयमपि द्यावापृथिव्यन्तरचारि चणकौदनबलिप्रियश्चास्ति। अस्य स्वरूपन्तु कृष्णवर्णः कलेरप्रतिमासनः मद्यमांसालयप्रियः रक्तकरः चलस्थश्च कथितः।[7] समरांगणसूत्रधारे वितथः अधर्मः कलेरप्रतिमः सुतश्च समुदाहृतः।[8] भारतीयपरम्परायामयमशुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

12. गृहक्षतदेवः - वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि वितथदेवाद् अधःस्थः वास्तोः दक्षिणकटिस्थः गृहक्षतदेवः। अयं गृहादिषु स्वस्तिं करोति। अयं पाटलाङ्गः गदासिवरचर्मभृत् क्रूरः सिंहवाहनश्चास्ति।[9] समराङ्गणसूत्रधारे गृहक्षतः बुधः चन्द्रतनयश्च कथितः।[10] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 8
2. समरांगणसूत्रधार 14/17
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 9
4. समरांगणसूत्रधार 14/17
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 10
6. समरांगणसूत्रधार 14/17
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 11
8. समरांगणसूत्रधार 14/18
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 12
10. समरांगणसूत्रधार 14/18

13. यमः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि गृहक्षतदेवाद् अधःस्थः वास्तोः दक्षिणभागस्थः यमदेवः। अयं मृत्योर्देवः दक्षिणदिशमाश्रितः महिषवाहनः अञ्जनाद्रिसमप्रभः चित्रगुप्तसहायकः दण्डपाशमुद्गरधृतः सप्तर्षिभिर्युक्तः धर्माधर्मप्रवर्तकः लोकसंयमनकः किङ्करैर्युतः रक्ताक्षः कर्मज्ञश्चास्ति। अस्य पदे गृहनिर्माणं मृत्युप्रदमेव।[1] समरांगणसूत्रधारे यमः प्रेताधिपः श्रीमान् वैवस्वतश्च कथितः।[2] भारतीयपरम्परायामयमशुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

14. गन्धर्व – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि यमदेवतः अधःस्थः वास्तोः दक्षिणजानुस्थः गन्धर्वदेवः अस्ति। अयं षड्विंशरागतत्परः वीणावादरतः विभुः अप्सरोगणसंकीर्णः नानागन्धैश्चर्चितः सुष्ठुवेषधरः शिखायुक्तः गौरवर्णः ध्यानमग्नः वीणाकमण्डलुधरश्चास्ति।[3] समरांगणसूत्रधारे गन्धर्व एव देवो नारदः भणितः।[4] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

15. भृंगराजः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि गन्धर्वतः अधःस्थः वास्तोः दक्षिणजङ्घास्थः भृङ्गराज अस्ति। अयं भ्रमरकुलैः सेव्यमानः, कुसुमामोदसंयुतः, सुनीलाङ्गः, महाकायः कुंकुमारुणविग्रहः खड्गखेटधरश्चास्ति।[5] समरांगणसूत्रधारे भृंगराज एव राक्षसः निर्ऋतेः सुतश्च भणितः।[6] भारतीयपरम्परायामयमशुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

16. मृगः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि भृंगराजतः अधःस्थः वास्तोः दक्षिणस्फिक्स्थितः मृग अस्ति। अयं शशांकचिह्नः कृष्णवर्णः चतुष्पदः श्वेतोदरविषाणः भूषितांगः वरदाभयमुद्रिकः वरासनः चारुनेत्रश्चास्ति।[7] समरांगणसूत्रधारे मृग एव अनन्तः स्वयंभूः धर्मश्च निगदितः।[8] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितोऽस्ति।

17. पितरः – वास्तुचक्रे दक्षिणदिशि नैर्ऋत्यकोणे मृगतः अधःस्थः वास्तोः दक्षिणपादस्थाः पितरः सन्ति। तत्र **सोमपाः अग्निष्वाताः बर्हिषदः** इत्यादयः पितृगणाः स्थिताः भवन्ति। एते पितरः पिंगाक्षाः कपिलजटाः हस्ते कुशकमण्डलुधराः सितवस्त्रपरिधानाः सितयज्ञोपवीतिनः भवन्ति। एतेषां कृते कृसरान्नं प्रदीयते। एते कुशपिण्डधराः स्वस्थाः श्यामलवर्णाः महोदराः सोमलोकवासिनश्च सन्ति।[9] समरांगणसूत्रधारेऽपि पितृलोकनिवासिनः देवाः पितरः निगदिताः।[10] भारतीयपरम्परायामेते पितृदेवा शुभदेवरूपे पूजिताः सन्ति।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 13
2. समरांगणसूत्रधार 14/19
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 14
4. समरांगणसूत्रधार 14/19
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 15
6. समरांगणसूत्रधार 14/20
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 16
8. समरांगणसूत्रधार 14/20
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 17
10. समरांगणसूत्रधार 14/21

18. दौवारिकः:- वास्तुचक्रे पश्चिमदिशि नैर्ऋत्यकोणतः उत्तरं प्रति पितृदेवेभ्यो वामभागे वास्तोः वामस्फिक्स्थितः दौवारिकः। अयं द्वाररक्षकः पिष्टबलिप्रियः दन्तकाष्ठवासितश्चास्ति। अयं वेत्रमुद्राधरः भूतिविभूषितः मुक्ताभपादुकारूढो वर्तते।[1] समरांगणसूत्रधारे दौवारिकः प्रमथानामधीश्वरः नन्दी कथितः।[2] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

19 सुग्रीवः - वास्तुचक्रे पश्चिमदिशि दौवारिकतः वामभागे वास्तोः वामजङ्घास्थितः सुग्रीवः। अयं कपिराजमुख्यः पाषाणवृक्षधरः पद्मासने सुशोभितः हेमवर्णः यज्ञशरीरः द्विभुजः कामदश्चास्ति।[3] समराङ्गणसूत्रधारे तु - आदिः प्रजापतिः स्रष्टा मनुः सुग्रीव ईरितः।[4] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

20 पुष्पदन्तः - वास्तुचक्रे पश्चिमदिशि सुग्रीवतः वामभागे वास्तोः वामजानुस्थितः पुष्पदन्तः। अयं विनायकः लम्बोदरः महाकायः गजवक्त्रः चतुर्भुजः सिद्धिबुद्धिसहितः अभ्रसंकाशः खगपक्षविराजितः महाबलः व्यालहस्तः सर्वविघ्नविनाशकश्चास्ति।[5] समराङ्गणसूत्रधारे तु - पुष्पदन्तस्तु विनतातनयः स्यान्महाजवः।[6] अनेन पुष्पदन्तः पक्षिराजगरुडः इत्यनुमीयते। भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

21 वरुणः - वास्तुचक्रे पश्चिमदिशि पुष्पदन्ताद् वामभागे वास्तोः वामोरुस्थितः जलनायकः वरुणः। अयं कुम्भीरथसमारूढः श्वेताद्रिशिखिरोपमः पाशहस्तः महाबाहुः जलचरगणयुतः यादसां नाथः मकरस्थः पाटलांशुकः शंखपाशधरः शुभ्रश्चास्ति।[7] समरांगणसूत्रधारे तु - वरुणः पाथसां नाथो लोकपालः स कीर्तितः।[8] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

22. असुरः:- वास्तुमण्डले पश्चिमदिशि वरुणाद् वामभागे वास्तोः वामकटिस्थितः असुरः। अयं रक्षोगणसमन्वितः शक्तिशूलधरः नित्यं रक्ताक्षः महाबलः हिरण्यपाशभृत् मेचकाभासः करालास्यः अंगवर्जितः सिंहारूढो वारुणाक्षश्चास्ति।[9] समरांगणसूत्रधारे तु - असुरो राहुरर्केन्दुमर्दनः सिंहिकात्मजः।[10] भारतीयपरम्परायामयमशुभदेवरूपे पूजितः।

23. शोषः - वास्तुमण्डले पश्चिमदिशि वरुणाद् वामभागे वास्तोः वामपार्श्वस्थितः

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 18
2. समरांगणसूत्रधार 14/21
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 19
4. समरांगणसूत्रधार 14/22
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 20
6. समरांगणसूत्रधार 14/22
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 21
8. समरांगणसूत्रधार 14/23
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् - पृ. 22
10. समरांगणसूत्रधार 14/23

शोषः। अयं पातालतलवासी सहस्रशिरनागः फणमणिविराजितः कर्पूराभः नागराजः महाबलः परोपकारनिरतः अनन्तः विष्णुवाहनः कृष्णतनुः शूरः वरशूलेषुचापभृत् गृध्रापक्षः कृशः दीर्घश्चास्ति।[1]

समरांगणसूत्रधारे तु – शोषस्तु भगवानेषः सूर्यपुत्रः शनैश्चरः।[2] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

24. पापयक्ष्मा – वास्तुपदमण्डले पश्चिमदिशि शोषतः वामभागे वास्तोः वाममणि–बन्धस्थितः पापयक्ष्मा। अस्य पापः यक्ष्मेति चापरनामानि। अयं निर्भयः निर्घृणः शक्तिपाणिः महाबलः धूम्रवर्णः गदावरदमुद्रिकः कपोतवाहनश्चास्ति।[3] समरांगणसूत्रधारे तु – पापयक्ष्मा क्षयः प्रोक्तः।[4] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः अशुभदेवरूपे पूजितः।

25. रोगः – वास्तुचक्रे पापयक्ष्मातः वामभागे वायव्यकोणस्थानीयः वास्तुनः वामप्रबाहौ रोगः। अयं वातपित्तकफेतित्रिगुणात्मकः त्रिपादः त्रिशिरः रक्तनेत्रः भस्मविभूषितः घृतमोदकबलिप्रियः पापधरः रक्तः दुरात्मा व्याधिसंग्रह दुष्टकर्ममर्दकश्चास्ति।[5] समराङ्गणसूत्र–धारे तु – रोगस्तु कथितः ज्वरः।[6] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः अशुभदेवरूपे पूजितः।

26. अहिः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि रोगतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामबाहौ स्थितः अहिः। अयं त्रैलोक्यान्तरचारी शेषवंशसमुद्भवः चक्षुकर्णः महीश्वरः अहिराजः कमलवच्छुभ्रः फणमणिविराजितः अक्षकुण्डधरश्चास्ति।[7] समराङ्गणसूत्रधारे तु – भुजंगमानामधिपः श्रीमान् नागस्तु वासुकिः।[8] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः अशुभदेवरूपे पूजितः।

27. मुख्यः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि अहितः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामभुजास्थितः मुख्यः। अयं गणानां मुख्यनायकः जटाजूटधरः सौम्यः शूलपट्टिशधरः। अयमेव मुख्यः विश्वकर्मा वास्तुकुम्भाक्षसूत्रधृक् निपुणः महिषस्थो वर्तते।[9] समराङ्गणसूत्रधारे तु – त्वष्टा स्यान्मुख्यसंज्ञोऽत्र विश्वकर्माभिधश्च सः।[10] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

28. भल्लाटः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि मुख्यतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामबाहुस्थितः भल्लाटः। अयं भिल्लवेशधरः शिवरूपः कृष्णः धनुर्बाणादिधरः भिल्लमोहनकर्त्ता

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 23
2. समरांगणसूत्रधार 14/24
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 24
4. समरांगणसूत्रधार 14/24
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 25
6. समरांगणसूत्रधार 14/24
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 26
8. समरांगणसूत्रधार 14/25
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 27
10. समरांगणसूत्रधार 14/25

बर्हिपिच्छैरलंकृतः (मयूरपिच्छैरलंकृतः) चन्द्रसंकाशः वरमुद्रागदाधरः हयपुत्रः (हयग्रीवस्य पुत्रः) चास्ति।[1] समराङ्गणसूत्रधारे तु – चन्द्रो भल्लाट इत्युक्तः।[2] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

29. सोमः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि भल्लाटतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामप्रबाहुस्थितः सोमः। अयं शशांकः रजनीपतिः क्षीरोदधिसमुद्भूतः शिवजटाजूटविराजितः सुधाकरः द्विजाधारः त्रैलोक्यप्रीतिकारकः औषधाप्यायनकरः कन्दर्पवर्धनः नरविमानस्थः वरहस्तः गदाधरः गौरः महोदयः श्रीमाञ्च निगदितः।[3] समरांगणसूत्रधारे तु – कुबेरः सोमसंज्ञितः।[4] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

30. सर्पः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि सोमतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामस्कन्धस्थितः सर्पः। अयं सप्तफणयुक्तः उरगः कुम्भमालाधरः चतुर्बाहुः फणमणियुतः रक्तभ्रमः निगदितः।[5] समराङ्गणसूत्रधारे तु सर्पस्य स्थाने चरकः कथितः। चरको व्यवसायाख्यः।[6] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

31. अदितिः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि सर्पतः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामकर्णस्थिता देवमाता अदितिः। इयं द्विभुजा पद्महस्ता सर्वाभरणभूषिता कश्यपप्रियभार्या सुरूपा वामलोचना सूत्रवज्रांकुशाशीतिर्बिभ्राणाख्यानभूषिता चारुगौरांगी निगदिता।[7] समराङ्गणसूत्रधारे तु श्रीरिहादितिसंज्ञिका।[8] भारतीयपरम्परायामियं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजिता।

32. दितिः – वास्तुपदमण्डले उत्तरदिशि अदितितः ऊर्ध्वभागे वास्तोः वामनेत्रस्थिता दैत्यमाता दितिः। इयं शुभांगी द्विभुजा शूलपट्टिशधारिणी देवी श्यामलप्रभायुता खड्गधारिणी शूलधारिणी वृषासना चास्ति।[9] समराङ्गणसूत्रधारे तु – दितिरत्रोच्यते शर्वः शूलभृद् वृषभध्वजः।[10] भारतीयपरम्परायामियं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजिता।

33. आपः – वास्तुपदमण्डले ईशानकोणे शिखितः अधःस्थितकोणे वास्तोः मुखस्थितः आपो देवः। अयं वरदः शिवः पवित्रः मंगलावरः नीलवर्णः पीतवस्त्रयुतः पद्मभूषणः

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 28
2. समरांगणसूत्रधार 14/26
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 29
4. समरांगणसूत्रधार 14/26
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 30
6. समरांगणसूत्रधार 14/26
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 31
8. समरांगणसूत्रधार 14/26
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 32
10. समरांगणसूत्रधार 14/27

अक्षाब्जपाशपात्रधरः कथितः।[1] समरांगणसूत्रधारे तु हिमवानाप इत्युक्तः।[2] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

34. सावित्रः– वास्तुपदमण्डले आग्नेयकोणे वायुतः अधःस्थितकोणे वास्तोः दक्षिण–हस्तस्थितः सावित्रदेवः। अयम् अन्धकारनाशकः द्विभुजः पद्मगौरः पद्मासनस्थितः नित्यं वेदपाठरतः कथितः।[3] समराङ्गणसूत्रधारे तु वेदमाता सावित्र उच्यते।[4] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

35. जयः– वास्तुपदमण्डले नैर्ऋत्यकोणे पितृस्थानतः ऊर्ध्वस्थितकोणे वास्तोः मेढ्रस्थितः जयः। अयं यष्टिधारकः वज्रधरः महोग्रः अतुलविक्रमः पीतवर्णः गजारूढश्च कथितः।[5] समराङ्गणसूत्रधारे तु जयाभिधस्तु वज्रीति।[6] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

36. रुद्रः– वास्तुपदमण्डले वायव्यकोणे रोगस्थानतः ऊर्ध्वस्थितकोणे वास्तोः वामहस्ततलस्थितः रुद्रः। अयं सर्वदा शमर्थात् कल्याणं करोति अतः शङ्करः। एषः विभुः उमाधिष्ठितवामांगः वरदाभयहस्तकः जटागंगाधरः सौम्यः कर्पूराद्रिसमप्रभः गोस्थितः जटी यक्षः त्र्यक्षः अरुग् वराभयसूत्रधृक् शुभ्रः चर्मवस्त्रधरश्च कथितः।[7] समराङ्गणसूत्रधारे तु रुद्रस्तूक्तो महेश्वरः।[8] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

37. अर्यमा– वास्तुपदमण्डलस्य मध्ये संलग्नपूर्वदिशि वास्तुपुरुषस्य दक्षिणस्तनस्थाने स्थितः अर्यमा। एषः स्वभार्यासंज्ञासहितं भद्रं करोति। अयं अर्जुनवर्णः दीप्तिमान् रथवाहनः सुपद्ममाली खट्वाङ्गी चास्ति।[9] समराङ्गणसूत्रधारे तु आदित्यस्त्वर्यमा।[10] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

38. सविता– वास्तुपदमण्डलस्य अर्यमातः दक्षिणं प्रति आग्नेयकोणे वास्तुपुरुषस्य दक्षिणहस्तस्थाने स्थितः सवितादेवः। एषः सवितृमण्डलसंस्थः सप्ताश्ववाहनयुतः पङ्कजधरः कर्पूरकुण्डलविधारकः सौख्यप्रदो देवः। अयं सविता विश्वजनिता द्विबाहुः अरुणछवियुतः रथगामी पद्मपाणिश्च वर्तते।[11] समराङ्गणसूत्रधारे तु देवी गंगात्र विद्वद्भिः सवितेति प्रकीर्तिता।[12]

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 33
2. समरांगणसूत्रधार 14/27
3. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 34
4. समरांगणसूत्रधार 14/28
5. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 35
6. समरांगणसूत्रधार 14/29
7. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 36
8. समरांगणसूत्रधार 14/30
9. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 37
10. समरांगणसूत्रधार 14/28
11. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 38
12. समरांगणसूत्रधार 14/28

भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

39. विवस्वान् – वास्तुपदमण्डलस्य मध्ये संलग्नदक्षिणदिशि वास्तुपुरुषस्य दक्षिणक्रोड–भागगते स्थितः विवस्वान्देवः। एषः त्रिगुणात्मकः स्वर्णमयरथारूढः तमोनाशकः धृतचक्रपद्मः द्विभुजः शोणद्युतिः चण्डः पंकजासनः कर्मसाक्षी रथी च वर्णितो वर्तते। समरांगणसूत्रधारे तु मृत्युः शरीरहर्तासौ विवस्वानिति स स्मृतः।[1] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

40. विबुधाधिपः – वास्तुपुरुषस्य दक्षस्तनाश्रितः विबुधाधिपः वास्तुमण्डले विवस्वतः उत्तरं प्रति नैर्ऋत्यकोणे अवस्थितः। अयं गजारूढः अप्सरोभिः विवीज्यमानः सहस्राक्षः पीतांगः वज्रोत्पलकरः श्रीमान् चास्ति।[2] समराङ्गणसूत्रधारे तु स्यादिन्द्रो बलवान् हरि इति कथितः।[3] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

41. मित्रः – वास्तुपदमण्डलस्य मध्ये संलग्नपश्चिमदिशि वास्तुपुरुषस्य उदरस्थितः वामपाण्यंगुलिस्थितश्च विवस्वान्देवः। अपि चायं एषः तमोशान्तकः हलरत्नाब्जवज्रध्वजयुक्तहस्तः ऊर्ध्वभागे श्यामः अर्धसितस्वरूपः यथा मनःस्थः सिंहस्थः वर्तते।[4] समराङ्गणसूत्रधारे तु मित्रो हलधरो माली इति भणितः।[5] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

42. राजयक्ष्मा – वास्तुपुरुषस्य वामहस्तस्थः वास्तोर्मेढ्रसमाश्रितश्च राजयक्ष्मा वास्तुमण्डले मित्राद् उत्तरं प्रति वायव्यकोणे अवस्थितः। अयं नानाव्याधिसमाकीर्णः रोगैश्च परिशोभितश्चास्ति। एषः वामहस्तेन वरदः दक्षिणहस्तेन चाभयप्रदो वर्तते। अयं वरशक्तिधरः ब्रह्मचर्यवान् मयूरवाहनः नीलांगश्च।[6] समरांगणसूत्रधारे तु राजयक्ष्मा गुहः प्रोक्तः।[7] भारतीयपरम्परायामयं अशुभदेवरूपे पूजितः।

43. पृथ्वीधरः – वास्तुपदमण्डलस्य मध्ये संलग्नोत्तरदिशि वास्तुपुरुषस्य दक्षिणहस्तांगुलिस्थः पृथिवीधरदेवः। एषः जगतीतलस्थः आधारभूतः गृहे सुखप्रदः सहस्रवदनः श्रीमान् शंखचक्राक्षकुम्भभृत् नीलवर्णश्च वर्तते।[8] समराङ्गणसूत्रधारे तु क्षितिध्रोऽनन्त उच्यते इति भणितः।[9] भारतीयपरम्परायामयं सामान्यतः शुभदेवरूपे पूजितः।

44. आपवत्सः – वास्तुपुरुषस्य वक्षसि संस्थितः आपवत्सः। वास्तुमण्डले पृथिवीधरतः

---

1. समरांगणसूत्रधार 14/28
2. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 40
3. समरांगणसूत्रधार 14/29
4. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 41
5. समरांगणसूत्रधार 14/30
6. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 42
7. समरांगणसूत्रधार 14/30
8. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 43
9. समरांगणसूत्रधार 14/30

पूर्वं प्रति ईशानकोणे अयमवस्थितः। एषः कूर्मासनस्थः वरप्रदः कुम्भहस्तः महातेजो द्विभुजः सिंहवाहनः वरपाशधरो गौरवर्णश्च वर्णितः।[1] समराङ्गणसूत्रधारे तु आपवत्स उमा स्मृतेति निगदितः।[2] भारतीयपरम्परायामयं शुभदेवरूपे पूजितः।

45. ब्रह्मा – ब्रह्मा वास्तुपुरुषस्य हृदये संस्थितः। अस्यापर नाम **विश्वकर्मा** अप्यस्ति। अयं ज्ञानस्य प्रतीकः, परमशान्तिरूपः, वेदेषु निहितज्ञानेन संसारं तेजयुक्तं करोति। कोटिसूर्याणां प्रकाशेन युक्तोऽयं देवः लोकपितामहरूपे सुप्रतिष्ठितोऽस्ति। अयं देवः श्मश्रुयुक्तः हंससमारूढः, चतुर्मुखः, चतुर्बाहुः, चतुर्वेदसमन्वितः, पुस्तक-अक्षमाला-स्रुव-कमण्डलून् संधार्य, अरुणशरीरः, लम्बोदरश्चास्ति। अयं वास्तुचक्रे सर्वाधिकपदेषु स्थितो भवति। परन्तु अस्य पदेषु किमपि निर्माणकार्यं शुभदं न भवति। अयं शुभदेवरूपे भारतीयपरम्परायां सुपूजितोऽस्ति। समरांगणसूत्रधारे ब्रह्मणः निघण्टु एवमेव भणितोऽस्ति –

मध्ये य एव देवानां स्थितो ब्रह्माब्जसम्भवः।
स सहस्राननोऽचिन्त्यविभवो जगतां प्रभुः।।[3]

अनेन प्रकारेण देवानां शुभाशुभं सामान्यतः तेषां गुणकर्मानुसारेण ज्ञायते परन्तु **'स्तुतिः कस्मै न रोचते'** इत्यनुसारेण एते पञ्चचत्वारिंशद्देवाः पूजया प्रसन्नाः शुभदाः भवन्ति। अपि च यदि देवानां प्रकृतिविरुद्धं यदि तेषु पदेषु निर्माणादिकं क्रियते तदा ते रुष्टाः अशुभा अपि भवितुमर्हन्ति। अतः शास्त्रनिर्देशानुसारेणैव वास्तुपदस्थदेवानां प्रकृत्यनुरूपमेव निर्माणं शुभदं भवतीति।

---

1. वास्तुप्रतिष्ठासंग्रहः वास्तुपूजनम् – पृ. 44
2. समराङ्गणसूत्रधार 14/27
3. समरांगणसूत्रधार 14/13

दानवानां विश्वकर्मा मयासुरः

डॉ अव्यक्त रैणा

दानवराजमयः वास्तुशास्त्रस्य अप्रतिमः विद्वान् आसीत्। वास्तुशास्त्रस्य अष्टादशप्रवर्तकेषु अस्य नामाल्लेखः प्राप्यते।[1] अस्य वास्तुकलायां महत्वपूर्णावदानं वर्तते। भारतस्य दक्षिणभ. ागे प्रसिद्धद्राविडशैल्याः अयं प्रवर्तकः स्वीक्रियते विद्वद्भिः। अयं ज्योतिषशास्त्रस्यापि महान् विद्वान् आसीत्। सूर्यवरप्रसादाद् अनेन सूर्यसिद्धान्तरूपे ज्योतिषस्य अद्भुतं रहस्यमयं ज्ञानं सम्प्राप्तम्। अस्य विषये नैकेषु ग्रन्थेषु वर्णनं चोपलभ्यते तदाधारीकृत्य अत्र अस्य परिचयः कृतित्वञ्च प्रस्तूयते।

आचार्य मयस्य जन्मादिविवरणम्-

भारतीयज्ञानविज्ञानपरम्परानुसारं मयस्य उत्पत्तिः ब्रह्मणः विश्ववित् संज्ञकमुखात् अभवत्।[2] अपरमतानुसारेण मयासुरः दनुकश्यपयोः पुत्रः नमुचिदैत्यस्य भ्राता आसीत्।[3] मत्स्य-पुराणेऽपि दितिपुत्रनाम्ना मयस्य चर्चा प्राप्यते यथा-

मयो नाम दितेः पुत्रस्त्रिनेत्रः कलहप्रियः।[4]

सूर्यसिद्धान्ते सत्ययुगस्यान्ते अस्य कालः स्वीकृतः दृश्यते। यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते -

अल्पावशिष्टे तु कृते मयोनाम महासुरः।[5]

भारतीयकालगणनानुसारं प्रायः 2165120 वर्षं पूर्वं उपर्युक्त वर्णानुसारेण अस्यकालः अनुमीयते। आधुनिकविद्वांसः वर्तमानसूर्यसिद्धान्तस्य समयः वराहमिहिरकालस्यानन्तरं कथयन्ति। यतोहि पञ्चसिद्धान्तिकायां वराहोक्तग्रहाणां भगणादिमानं सम्प्रत्युपलब्धसूर्यसिद्धान्तोक्तमानेन भिन्नं वर्तते। अनेन उपर्युक्तमानं किञ्चित् संदिग्धं प्रतीयते परन्तु रामायणग्रन्थे मयस्य नामोल्लेखनेन उपर्युक्तकथनस्य पुष्टिरपि जाता यथा-

मयो नाम महातेजो मायावी वानरर्षभ।
तेनेदं निर्मित सर्वं मायया काञ्चनं वनम्।।
पुरादानवमुख्यानां विश्वकर्म बभूव ह।

---

1 मत्स्यपुराण-252/2-4

2 वास्तुसारसंग्रह प्राक्कथनम्- पृष्ठ-8

3 महाभारत-2/2/39

4 मत्यपुराणम्-133/7

5 सू.सि. मध्यमा.-2

येनेदं काञ्चनः दिव्यं निर्मितं भवनोत्तमम्।।[1]

वाल्मीकिरामायणस्य कालः भारतीयपरम्परागतमनुसारेण त्रेतायुगे अर्थात् प्रायः 800000 वर्षं पूर्वं अभवत्। महर्षिवाल्मीकि रामस्य समकालिक इति केचन विद्वांसः मन्यन्ते। परम्परागतश्रुत्यनुसारेण वेदानां रचानान्तरं रामायणस्य रचनाऽभवत्। ग्रन्थेऽस्मिन् 500 ईशाब्दपूर्वपर्यन्तमनेके क्षेपकाः प्रक्षिप्ताः। मैक्डोनल-विद्यालंकार-चन्द्रशेखरपाण्डेय कालीप्रसादजायसवाल-याकोवी-कीथप्रभृतीनां विदुषां मतानां समीक्षणेन कथयितुं शक्यते यत् रामायणस्य वर्तमानोपलब्धसंस्करणम् 500 ईशाब्दपूर्वस्यास्ति। तस्य पुनः संस्करणानि 200 ईशाब्दपूर्वपर्यन्तम् (सातवाहनयुगपर्यन्तम्) अभवन् किन्तु ग्रन्थस्यास्य सम्प्रत्युलब्धस्वरूपं तु 500 ईशाब्दपूर्वात् प्रागेव स्थिरमभवत्। रामायणस्य रचना महाभारतात्प्रागेवाभवदिति प्रायः सर्वेषां विदुषां सम्मतिः। रामायणस्य किष्किन्धाकाण्डे मनुनोक्तचारित्रिकोपदेशस्य वर्णनं दृश्यते। अनेन मनुस्मृत्यनन्तरं रामायणस्य रचनाऽभवदिति प्रतीयते।[2] अनेन रामायणकालतः पूर्वमेव अस्य जन्मसिद्धत्वात् मयस्य प्राचीनता सिद्ध्यति।

मयस्य परिवारः- पूर्वमेव उल्लिखितमस्ति यद् ब्रह्मणः मुखादेव मयस्य जन्म अभवत्। तदा ब्रह्मणः आदेशात् ग्रामनगरादीनां निर्माणार्थं विश्वकर्मादयः ब्रह्मणः मानसपुत्राः स्थपत्यादीनां चतुर्णां पुत्राणाम् उत्पत्तिम् अकुर्वन्। तत्र मयस्य पुत्रः सूत्रग्राहीति प्रकीर्तितः।[3]

द्वितीयमतानुसारेण मयः दितेः पुत्र आसीत्।[4] मानसारानुसारेण मयस्य विवाहः सुरेन्द्रतनयया सह जातः। स्वर्गस्य अप्सरा हेमा तस्य पत्नी आसीत्। यया अनेन मायाभि-दुन्दुभिसंज्ञकौ पुत्रौ मन्दोदरी नाम्नी च कन्या प्राप्ता। वह्निपुराणनुसारेण अस्य सप्तमहाबलाः सन्ततयः आसन्-

मयस्य जाता हेमायां पुत्राः सप्त महाबलाः।
मायावी दुन्दुभिश्चैव वृषश्च महिषस्तथा।
बालिका बज्रकन्या च कन्या मन्दोदरी तथा।।[5]

मन्दोदर्याः विवाह रावणेन सह संजातः। अतः मयासुरा रावणस्यश्वसुरः आसीत्[6]। अनेन ब्रह्मणः प्रीत्यर्थं तपः कृतः। अनेन संतुष्टो भूत्वा पितामहः वरदानरूपे सर्वं औषनसं धनं च दत्तवान् अर्थात् अनेन पितामहात् शिल्पज्ञानं वैभवञ्च प्राप्तम्।[7] साम्प्रतिक मेरठनगरं मयस्य राष्ट्रमासीदतः **मयराष्ट्र** नाम्नापि केचन जनाः मेरठनगरं स्वीकुर्वन्ति।

---

1 वाल्मीकिरामायण-किष्किन्धाकाण्ड-51/10-11

2 उद्धृत- शास्त्रमीमांसा- प्रो वेदनारायण चौधरी अभिनन्दन विशेषाङ्क सन् 2013 पृष्ठ 324

3 वास्तुसारसंग्रह प्राक्कथन पृष्ठ -9

4 मत्यपुराण-133/7

5 शब्दकल्पदुम

6 वाल्मीकिरामायण-उत्तरकाण्ड 12

7 वाल्मीकिरामायण- किष्किन्धाकाण्ड

मयस्य स्थानादिकम् – सूर्यसिद्धान्तस्य एकस्मिन् टीकारहितपुस्तके प्रथमाधिकारे सप्तमश्लोकरूपे कश्चिद् विशिष्टः उल्लेखः प्राप्यते।

न मे तेजः सह कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षणः।
मदंशः पुरुषोऽयं ते निःशेषं कथयिष्यति॥
तस्माद् एवं स्वां पुरीं गच्छ तत्र ज्ञानं ददामि ते।
रोमके नगरे ब्रह्मशापान्म्लेच्छावतारधृक्॥[1]

अत्र दीक्षितमहाभागाः सप्तमश्लोकस्य पूर्वापरसन्दर्भेण विचारं कृत्वा एनं श्लोकम् असंगतं स्वीकुर्वन्ति। अनेन प्रकारेण वेबरमहोदयस्य कथनमस्ति यद् इजिप्टदेशस्य राज्ञः तालमयस इत्यस्य नाम भारतस्य उत्खननेन सम्प्राप्तलेखेषु 'तुरुमय' सम्प्राप्यते। अतः असुरः मयः तुरुमयस्य स्वरूपान्तरं भवेत्। अनेन आलमाजेष्ट ग्रन्थस्य कर्ता तालमी एव मयो भवेत्[2] परन्तु तालमीमहाभागस्य ग्रन्थस्य मूलसूर्यसिद्धान्तेन साकं न अस्ति कश्चित् सम्बन्धः। पं. सुधाकरद्विवेदीमहाभागाः पञ्चसिद्धान्तिकायाः प्रकाशिकाटीकायां सूर्यारुणसंवादे स्पष्टं कुर्वन्ति यद् गर्गादिमुनिभ्यः यज्ज्ञानं महर्षिणा पुलिशेन भणितं स पौलिशसिद्धान्तः , ब्रह्मशापवशाद् रोमकनगरे समुत्पन्नः सूर्यः यज्ज्ञानं रोमकनगरस्य यवनान् दत्तवान् स रोमकसिद्धान्तः, वसिष्ठेन यज्ज्ञानं पराशराय दत्तं स वसिष्ठसिद्धान्तः। सूर्येण (सूर्यांशपुरुषेण) यज्ज्ञानं मयदैत्याय भणितं स सूर्यसिद्धान्तः। यञ्च ब्रह्मा वसिष्ठाय दत्तवान् स पैतामहः सिद्धान्तः[3]। उपर्युक्तकथनेन विदितमस्ति यद् रोमकसौरसिद्धान्तयोः उपदेष्टा सूर्य एव अस्ति। रोमकसिद्धान्ते मयस्य उल्लेखो न विद्यते यद्यपि सूर्यसिद्धान्ते अस्ति एव।

पाश्चात्यविद्वांसः मयं यवनदेशस्य (यूनान देश) निवासी स्वीकुर्वन्ति। केचित् भारतीयविद्वांसः मयदैत्यं असीरीया अथवा बैबीलोनिया इत्यस्य निवासी आमनन्ति[4] महावीरप्रसादश्रीवास्तवमहाभागस्य मान्यता वर्तते यन्मय इति कस्यापि पुरुषस्य संज्ञा नास्ति अपितु एकस्याः जातेः नामासीत्। इयं जातिः शिल्पे यन्त्रविद्यायां च बहुकुशलासीत्। मयस्य चर्चा महाभारते सभाभवननिर्माणप्रसङ्गे दृश्यते। रामायणेऽपि मयस्य चर्चास्ति। अस्याः जातेः सम्भवतः केचन जना भारतवर्षतः मैक्सिकोदेशपर्यन्तं गतवन्तः, यत्र ते मयसभ्यतायाः स्थापनं कृतवन्तः। यस्याः अनेकानि चिह्नानि विशेषतः ज्योतिषसम्बन्धितत्त्वानि सम्प्रत्यपि प्राप्यन्ते।[5]

हिन्दू–अमेरिका–प्रभृतिदेशानां ग्रन्थेषु माया अथवा मयसभ्यतायाः विस्तृत उल्लेखः प्राप्यते।[6] प्रो

---

1 पुणेस्थस्य आनन्द–आश्रमे सूर्यसिद्धान्तसंख्या 2909
उद्धृतम्–भारतीयज्योतिष (दीक्षित–पृष्ठ 247–248)

2 भारतीयज्योतिष(दीक्षित) पृष्ठ 15

3 सू. सि. विज्ञानभाष्य– पृष्ठ–4

4 मयतम्–II श्रीकृष्ण जुगनू–मय और इनका मत पृष्ठ 199

5 सूर्यसिद्धान्त विज्ञानभाष्य पृष्ठ 5–6

6 मयमतम् II श्रीकृष्ण जुगनू पृष्ठ XII

केशवरामकांशीरामशास्त्रीमहाभागानां मते मय: अस्य युगस्य एक: महान शिल्पी स्थपतिश्चासीत्। मध्य-अमेरीकाया: प्रदेशेषु समागता (साम्प्रतिक युकातान् तस्य निम्नभूभागे ग्वाटेमाला धेन्दुरास, एल. साल्वादारे प्रभृतिप्रदेशेषु) मया-नाम्नी एका अमेरिकन-आगन्तुक-प्रजा आसीत्। यया निर्मितं भव्यं स्थापत्यं तस्या: उच्चस्थापत्यविद्याया: परिचयं ददाति। एतेषां स्थापत्यानां काल: प्राय: ईशापूर्वद्वितीयशताब्दी अस्ति। यदि महाभारतीयमय: ऐतिहासिकजन: अस्ति। तदा तस्य काल: ईशापूर्व द्वितीय-तृतीयसहस्राब्दयो: मध्ये सम्भाव्यते अर्थात् अमेरिकादेशे मायानां ज्ञातसमयत: बहुपूर्वं मयस्य काल:। स्थपतिमयस्य स्थापत्यप्रियमायानां च मध्ये कश्चित् सम्बन्ध:? इति प्रश्नस्य अस्माकं समक्षे उत्तरं नास्ति। यतोहि-अमेरिकी- आदिमप्रजातीनां निवासस्य किमपि प्राचीनसाहित्यं मुखपरम्परयामपि उपलब्धं नास्ति। तेषां पाश्र्वे वर्णलिपि: नासीत् केवलं चित्रलिपि: विकसित: आसीत्। अस्मात् कारणात् तेषां प्रामाणिक- इतिहास: सुलभो नास्ति। यत् किञ्चित् प्राप्यते तत् पारम्परिकजनश्रुतिरेव अस्ति। केवल वक्तुं शक्नुम: यत् महाभारतीयमय: बहित: समागत: कश्चिद् दानव: आसीत्। अथवा केवलं वक्तुं प्रभवाम: यद् भारतीय- उच्चारणं मय: अस्ति अमेरिकादेशे उच्चारणं माया।[1] परन्तु महावीरप्रसाद-श्रीवास्तवमहाभागा: कथयन्ति यत् मयासुर: विदेशी नासीत्। भारतस्य निवासीभूत्वा तेन यज्ज्ञानं प्राप्तं तस्य ज्ञानम् ऋषिभि: अनन्तरं तेनैव सम्प्राप्तम्।[2]

मयस्य विशिष्टग्रन्था:

मयस्य वास्तुशास्त्रे प्रमुखा रचना मयमतम् इति नामक: ग्रन्थ: अस्ति। अस्मिन् ग्रन्थे प्राय: वास्तुशास्त्रस्य प्रमुखानां सिद्धान्तानां संग्रहो वर्तते। एतदतिरिच्य मयकृत् आसुरीविद्या-मयतंत्र-प्रतिष्ठातन्त्र-मयशास्त्र-मयवास्तु-मयशिल्प-मयप्रतिष्ठातत्त्व-मयशिल्पषटिका-मयसंग्रह-मयदीपिकाप्रभृतीनां[3] नैकानां ग्रन्थानां चर्चा तु प्राप्यते परन्तु सम्प्रति ते समुपलब्धा: न सन्ति।

एवमेव ज्योतिषविषये सूर्यसिद्धान्तनामको ग्रन्थ: समुपलभ्यते, यस्मिन् मयासुर: ज्योतिषशास्त्रस्य जिज्ञासुरूपे निगदित:। तत्र सूर्यांशपुरुष: ज्ञानोपदेष्टा अस्ति। अत: मयेन सूर्य-सिद्धान्त: न लिखित: इति स्पष्टो जात:। तथापि मयेन सम्बन्धत्वात् सूर्यसिद्धान्त: मयस्य कृति इति स्वीक्रियते विद्वद्भि:। केषुचिद् ग्रन्थेषु मयोक्तमयसंहिताया: वर्णनमपि मिलति।[4] मयपरम्पराया: मुख्यग्रन्थेषु मयमतम्, मानसार:, चित्रलक्षणम्, कश्यपशिल्प:, एकलाधिकार:, वास्तुपुरुषविधानम्, प्रयोगमञ्जरी, प्रयोगपरिजात:, शिल्परत्नम्, शिल्पसंग्रह:, शुक्रनीति, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति:, हरिभक्तिविलास:, मठ्प्रतिष्ठा, मनुष्यालयचन्द्रिका, चतुवर्गचिन्तामणि:

1 उद्धृतम्-मयमतम् II श्रीकृष्णजुगनु पृष्ठ XIV

2 सू. सि. विज्ञानभाष्य भूमिका- पृष्ठ-22

3 मयमतम्-II सम्पादक श्री कृष्ण जुगनु

4 वास्तुशास्त्रविमर्श-4 पृष्ठ- 13

प्रभृतयः ग्रन्थाः सन्ति।[1]

मयस्य वैशिष्ट्यम्

वास्तुविद्यानिष्णातः आचार्यमयः द्राविड़परम्परायाः उद्भावकोऽस्ति। यथा विश्वकर्मा देवतानां शिल्पी आसीत् तथैव मयः दानवानाम्। यथोक्तं वाल्मीकिरामायणे–

पुरा-दानवमुख्यानां विश्वकर्मा बभूव ह।[2]

महाभारतस्य एकस्मिन् प्रसङ्गे मयः स्वयमेव उद्घोषयति–

अहं हि विश्वकर्मा दानवानां महाकविः।[3]

अत्र स्वयमेव विश्वकर्मणां साकं तुलनया विश्वकर्मापेक्षया अस्य किञ्चित् न्यूनत्वं सिद्धयति। मयमतेऽपि सूत्रग्राह्यादीनां कृते स्थपति विश्वकर्मा एव इति वचनेनापि विश्वकर्मणः श्रेष्ठत्वम् अनुमीयते। तथापि मयः मायाविद्यायाः अप्रतिमज्ञाता कुशलः प्रोक्ता चासीत्।[4] महाभारतस्य सभापर्वणि मयनिर्मितानां पाण्डवानां सभाभवनानां, वनस्य[5] स्वर्णभवनस्य[6] मायानगरस्य[7] च अद्भुतं वर्णनं दृश्यते। एवमेव मत्स्यपुराणे त्रिपुरदुर्गस्य वर्णनं प्राप्यते –**त्रिपुरं येन तद्दुर्गं कृतं पाण्डुरगोपुरम्**[8]**।** एवमेव स्कन्धपुराणे[9] लिङ्गपुराणे[10] चापि त्रिपुरवधप्रसङ्गे मयस्य चर्चा प्राप्यते। मत्स्यपुराणे विस्तृतरूपेण त्रिपुरस्य चर्चा दरीदृश्यते। भागवतपुराणे अस्य निर्मितस्य वैहायस्विमानस्य चर्चा दृश्यते।[11]एवमेव वाल्मीकिरामायणस्य सुन्दरकाण्डे पुष्पकविमानस्य वर्णनं दरीदृश्यते[12]। अनेन प्रकारेण वास्तुशास्त्रस्य प्रायोगिककार्ये मयस्य महत्वपूर्ण योगदानं परिलक्ष्यते।

समीक्षणम्-

मयस्य विषये यत् किञ्चिदुपलभ्यते तत् सर्वं अस्ति न वेति सन्देहास्पदः। तथापि मयः ऐतिहासिकः पुरुषः आसीत् इति स्पष्टमेव। यतोहि रामायणप्रभृतिप्राचीनग्रन्थेषु

---

1 वास्तुशास्त्रविमर्श पुष्प 4 पृष्ठ 15

2 वा. रा. कि.का.-51/11

3 महाभारत-सभापर्व-1-5

4 वा.रा. कि.का-51-10-11

5 महाभारतसभापर्व-15/9-12

6 महाभारतसभापर्व-51-12

7 महाभारतसभापर्व-12-90

8 मत्स्यपुराण-133/7

9 आवन्त्य-रेवाखण्ड-43

10 लिंङ्गपुराण-73-74

11 भागवत पुराण-8/10/16-17

12 उद्धृत वा. शा वि पुष्प 4 पृ 13

अस्य चर्चा समुपलभ्यते। रामायणे उल्लिखितस्य रामसेतोः कालः तिरुचिरापल्लीस्थितस्य भारतीदास विश्वविधान संस्थया 2003 ईशवीवर्षस्य सर्वेक्षणानुसारं केवलं 3500 वर्षमितः अस्ति।[1] रामसेतोः उल्लेखः वाल्मीकिरामायणे अपि सम्प्राप्यते अतः न्यूनतमं प्रायः 3500 वर्ष पूर्वं तु मयस्यापि कालः सम्भाव्यते, यतः पौराणिकमतानुसारेण तु मयः रावणस्य श्वसुरः आसीत्। मयस्य स्थानादिविषयेऽपि मतवैभिन्न्यं दृश्यते। केचिद् विद्वांसः एनं वैदेशिकं स्वीकुर्वन्ति तथापि अस्य स्थितिः बृहत्तरभारत एव सम्भवति। मयस्तु ज्योतिषशास्त्रस्य वास्तुशास्त्रस्य च ज्ञाता आसीत्। ज्योतिषशास्त्रस्य अष्टादशप्रवर्तकेषु यद्यपि अस्य नामोल्लेखः न प्राप्यते तथापि यवनः इति शब्देन अस्य नामोल्लेखस्य सम्भावना अपि वर्तते। यतो हि पाश्चात्यविद्वांसः मयं, यवनं स्वीकुर्वन्ति। परन्तु मय एव यवनः इति सन्देहास्पदः। कश्चिदपि अन्यः यवनः भवितुं शक्नोति। परन्तु वास्तुशास्त्रस्य अष्टादशप्रर्वतकेषु मत्स्यपुराणे स्पष्टरूपेणास्य नामोल्लेखः। तत्र बृहत्संहितायां ज्योतिषशास्त्रस्य प्रवर्तकैः गर्गपाराशरकाश्यपैः सह मयस्य शिष्यसंघानां चर्चा प्राप्यते यथा-

कनकशिलाचयविवरजतरुकुसुमाससूङि्ग मधुकरानुरुते
बहुविहगलह सुरयुवति गीत मन्द्र स्वनोपवने।
सुनिलयशिखरे बृहस्पतिर्नारदाय यानाह।
गर्ग-पराशर-कश्यप- मयाश्च यान् शिष्यसङ्घेभ्यः।[2]

अनेन स्पष्टं यत् मयाचार्यस्य गुरुकुलपरम्परा सुदृढासीत् यस्मिन् वास्तुशास्त्रस्य ज्योतिशास्त्रस्य च विशेषरूपेण अध्ययनं भवति स्म।

वास्तुशास्त्रस्य ज्ञातारूपे अनेन निर्मितानि अनेकानि भवनानि आसन् येषामुल्लेखः रामायण-महाभारत-पुराणादिषु सम्प्राप्यते। अनेन अनेकानां भवनानाम् उपवनानां वाटिकानां सभा-भवनदीनां निर्माण तु कृतं परन्तु स्वयमेव वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्तोपरि ग्रन्थो लिखितो न वा? इति महाप्रश्नः। सम्प्रति केवलं मयमतम् इति ग्रन्थः समुलभ्यते यस्मिन् अस्य मतानां संग्रहो विद्यते इति ग्रन्थावलोकनेन स्पष्टं भवति। यथा ग्रन्थस्य प्रयोजनविषये तत्र उल्लिखितम्-

तैतिलानां मनुष्याणां वस्त्वादीनां सुखोदयम्।
प्राज्ञो मुर्निमयः कर्ता सर्वेषां वस्तुलक्षणम्[3]

अपि च तत्रैव -

पितामहाद्यैरमरैर्मुनीश्वरैर्यथा यथोक्तं सकलं मयेन तत्।

---

1 रामसेतु - विकिपिडिया

2 बृहत्संहिता-24-1-2

3 मयमतम्- 1/2

तथा तथोक्तं सुधियां दिवौकसां नृणां च युक्त्योखिलवस्तुलक्षणम्।।[1]

अपि च मयस्य मतानि अस्मिन् सङ्ग्रहितानि इति दृष्ट्या ग्रन्थस्य नाम 'मयमतम्' इति सम्भाव्यते। सम्भवतः मयस्य शिष्यपरम्परायां केनचित् मयस्य सिद्धान्तानां नियमानाञ्च परिशीलनं कृत्वा ग्रन्थोऽयं विरचितः। अस्य कथनस्य प्रबला सम्भावना वर्तते। वास्तुशास्त्रस्य अन्यानां ग्रन्थानामपि अयं प्रणेता इत्यस्य चर्चा केषुचित ग्रन्थेषु प्राप्यते। तथापि सम्प्रति तेषां ग्रन्थानां उपलब्धिर्न भवति। ज्योतिषशास्त्रस्य महान् ग्रन्थः सूर्यसिद्धान्तो वर्तते। अनेन सह मयस्य सम्बन्धः प्रश्नकर्तृरूपे वर्तते। पुनश्च तत्र कथानकरूपे सूर्यमयासुरसंवादः प्राप्यते अतः केनापि ऋषिणा ग्रन्थस्यास्य संकलनं कृत्वा प्रकाशितम् इति स्फुटमेव। अनेनापि सूर्यसिद्धान्तस्य कर्ता मय नास्तीति स्पष्टमेव। यदि वयं सूर्यसिद्धान्त-मयमतयोः समीक्षणं कुर्मः तथापि भाषाकौशल-लेखन- शैलीदृष्ट्या च उभयोः मध्ये वैभिन्न्यं दरीदृश्यते। अतः अनयोः रचनाकारयोः मध्ये पार्थक्यं स्फुटमेव प्रतिभाति। सूर्यसिद्धान्ते कुत्रापि मयमतग्रन्थस्य चर्चा न अस्ति एवमेव मयमतेऽपि सूर्यसिद्धान्तस्य चर्चा न दृश्यते। विशेषरूपेण मयमतस्य दिक्परिच्छेदे अध्याये सिद्धान्तोक्तप्रकारेण दिक्साधनस्य विधिस्तु कथितः परन्तु तत्र सूर्यसिद्धान्तस्य न तु चर्चा अस्ति न तु तस्य प्रकारः कथितः। अपि च तत्र मयमते अपच्छायाविषये चर्चास्ति परन्तु सूर्यसिद्धान्ते अस्य चर्चा न मिलति। अतः अनयोः रचनाकारौ भिन्नौ एव इति प्रतीयते। वस्तुतः मयस्य शिष्यपरम्परायां केनचिद् आचार्येण ज्योतिषज्ञेन सूर्यसिद्धान्तस्य संग्रहः कृतः केनचिच्च वास्तुशास्त्रज्ञेन मयमतग्रन्थस्य। यथा सम्प्रति शङ्कराचार्यस्य शिष्यपरम्परायाम् अनेके शिष्याः सन्ति तथैव मयस्य शिष्यपरम्परायपि अनेके मयाः अभवन् इति सम्भाव्यते अर्थात् शनैः शनैः मयः इति पदवी जाता। मय वास्तुशास्त्रस्य ज्योतिषशास्त्रस्य च महान् गुरुः आसीदिति निसंशयः। अस्य शिष्यपरम्परापि ज्योतिषवास्तुशास्त्रयोः संवाहिकासीदिति।

गणितवास्तुशास्त्रयोः मयासुरस्य योगदानम् -

तत्र ज्योतिषशास्त्रे मयासुरेण सम्बद्धः सूर्यसिद्धान्तनामको ग्रन्थः प्राप्यते। ग्रन्थोऽयं सिद्धान्तज्योतिषशास्त्रस्य मूर्ध्नि संस्थितः। अस्मिन् ग्रन्थे ज्योतिषशास्त्रस्य वर्णनं प्राप्यते। ज्योतिषशास्त्रस्य रहस्यमयं ज्ञानं तु अत्यन्तं प्राचीनं, तत्र केवलं युगभेदन किञ्चित् परिवर्तनं दृश्यते परन्तु शास्त्रस्य मूलसंकल्पना कदापि परिवर्तिता न भवति। यथोक्तं तत्र-

शृणुष्वैकमनाः पूर्व यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम्।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता।।
शास्त्रमाद्यं तदेवेतं यत्पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलः।।[2]

तत्र कालस्य स्थूलसूक्ष्मभेदत्वेन कालस्य मूर्तामूर्तविभागयोः वर्णनेन सह नवविधकालमानानि गदितानि सन्ति। अहर्गणेन ग्रहानयनस्य या भारतीयपद्धतिः वर्तते। सम्भवतः

1 मयमतम्-1/2

2 सू. सि. म. अ.-8-9

तस्य मूलं तु सूर्यसिद्धान्तः एव। सूर्यसिद्धान्ते दिग्देशकालसम्बन्धीनां त्रिप्रश्नानाम् उत्तराणि, सूर्यचन्द्रग्रहणयोः वैज्ञानिकविधिना साधनविधिः, ग्रहनक्षत्राणाम् उदयास्तविषयाः प्रभृतयः नैके विषयाः सुविस्तृतरूपेण प्रतिपादिताः सन्ति। अस्मिन् ग्रन्थे भूगोलाध्याये सृष्टिरुत्पत्तिपरिकल्पना भुवनकोशविमर्शः भूगोलस्य च वर्णनम् अनुसन्धानदृष्ट्या अत्यन्त महत्वपूर्णमस्ति। अस्मिन् ग्रन्थे सिद्धान्तज्योतिषस्य प्रायः समस्त विषयाः निगदिताः सन्ति। सम्प्रति-उपलब्धसूर्यसिद्धान्ते अयनांशचर्चा अतिमहत्त्वपूर्णः, यत्र अयनांशस्य 27^0 दौलनात्मिका गतिः स्वीकृता दृश्यते। वस्तुतः मयस्य उपदेशान् संगृह्य केनचित् शिष्येन सूर्यसिद्धान्तः विरचितः। मध्ये- मध्ये कालक्रमेण अस्मिन् ग्रन्थे तस्य शिष्यपरम्परया प्रक्षिप्तांशाः संयोजिताः येन ग्रन्थोऽयं तत् तत् काले ग्रहगतिसाधने आधारभूतः ग्रन्थो जातः। वराहमिहिरेण पञ्चसिद्धान्तिकायां निगदितं-स्पष्टः सावित्रः।[1]अनेन ग्रन्थेन मयासुरस्य योगदानं च स्पष्टरूपेणावलोक्यते। सम्भवतः फलकथनदृष्ट्या मयसंहिता नामकग्रन्थोऽपि आसीत् यस्य प्रस्तोता प्रथम उपदेष्टा वा मय एव आसीत्। सम्प्रति ग्रन्थोऽयं न प्राप्यते।

वास्तुशास्त्रे मयस्य एका सुदृढा परम्परा दरीदृश्यते। अयं असुरजातेः महान शिल्पी आसीत्। अस्य विरचितानां नैकानां भवनानां, सभाभवनानां, वाटिकानां, नगराणां, विमानानाञ्च वर्णनं रामायणादिप्राचीनकाव्येषु सन्निहितं वर्तते। अयं मयासुरः द्राविड़शैल्याः प्रवर्तकोऽपि आसीत्। विश्वकर्मणः नागरशैल्याः प्रतिस्पर्धायां द्राविड़शैल्या अनेन प्रवर्तनं कृतम्। अतः अयं विश्वकर्मणः प्रतिद्वन्द्विरूपे भारतीयइतिहासे सुप्रतिष्ठितो जातः। अस्य मतानां सिद्धान्तानां नियमानां च संग्रहः 'मयमतम्' नामकग्रन्थे दरीदृश्यते। अस्मिन् ग्रन्थे वास्तुशास्त्रस्य नैकविधनिर्मितीनां वर्णनं प्राप्यते। वस्तुतः ग्रन्थस्यास्य विषये नैकेषु ग्रन्थेषु चर्चा सम्प्राप्यते। कर्मकाण्डाय यज्ञकुण्डादीनां निर्माणे, गोपुरे, द्वारे, भूमिपरीक्षणविषये च मयस्य सिद्धान्तैः शिल्पशास्त्रिनः परिचिताः सन्ति एव। हैमाद्रिणा चतुर्वर्गचिन्तामणिग्रन्थौ मयस्य सिद्धान्ताः नियमाश्च समुद्धृताः। कृत्यकल्पतरोः मातृकासु अपि ग्रन्थस्यास्य श्लोकाः लभ्यन्ते। राजशास्त्रीयनिबन्धग्रन्थेष्वपि मयस्य कथनानि सम्प्राप्यन्ते।[2] यतोहि ज्योतिषस्य संहितान्तर्गतं वास्तुशास्त्रस्य चर्चा प्राप्यते एवमेव वास्तुशास्त्रस्याङ्गभूतत्वेन ज्योतिषशास्त्रमित्यपि प्राप्यते। अनेन वास्तुज्योतिषशास्त्रयोः परस्परसम्बन्धः स्फुटः। ज्योतिषशास्त्रस्य ज्ञानं विना वास्तुशास्त्रे प्रवीणता भवितुं न अर्हति। एवमेव ज्योतिषेऽपि वास्तुशास्त्रस्य ज्ञानम् अपेक्षितं वर्तते एव। अस्मात् कारणात् मयासुरः ज्योतिषवास्तुशास्त्रयोः महान् ज्ञाता आसीदित्यत्र नास्ति आश्चर्यः। सूर्यसिद्धान्त-मयमतग्रन्थयोः ये सिद्धान्ताः सन्निहिताः सन्ति तेषां समीक्षणेन मयासुरस्य ज्योतिषवास्तुशास्त्रयोः महदवदानं स्पष्टरूपेण परिलक्ष्यते इति।

कालज्ञाने मयासुरस्य वैशिष्ट्यम् -

त्रिप्रश्नेषु दिग्देशकालेषु कालः अन्यतमो वर्तते। सूर्यसिद्धान्ते कालस्य भेदविषये

1 पञ्चसिद्धन्तिका- उद्धृतं भारतीय ज्योतिष(दीक्षित) पृष्ठ-211

2 मयमतम् (II) श्रीकृष्णजुगनू भूमिका - पृष्ठ-(XXIII)

निगदितमस्तियत् -

लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलात्मकः।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते।।[1]

तत्र अमूर्तकालस्य प्रवृत्तिः त्रुटितः स्वीकृता। आधुनिकदृष्ट्या तु त्रुटिमानं आधुनिकसेकेण्डमितकालस्य 3240000 भागतुल्यं भवति। तत्र मूर्तगणनायाः प्रारम्भः प्राणादितः कथितः। एकप्राणस्य मानं तु आधुनिक मतेन 4 सेकेण्डमितं भवति। ततोऽग्रे कालगणना–

6 प्राण= विनाड़ी (1पलम्)
60 विनाडिकाः (पलानि) = 1 नाड़ी (घटिका)
60 नाडिका = 1 नाक्षत्रम् अहोरात्रम् इत्यादयः

एवमेव तत्र सौरचान्द्र-सावन-नाक्षत्रमानानां सूक्ष्मतापूर्वकं वर्णनं कृत्वा दिव्य - पैत्र- गुरु- प्राजापत्य- ब्रह्ममानानामपि निरूपणं कृतम्। ततः अर्हगणसाधनं कृत्वा स्पष्टग्रहानयनं विहितम्। तत्र सूर्य-चन्द्रयोः स्पष्टगतिस्थितिवशात् मानवव्यवहारोपयोगिनां तिथ्यादिमानानां साधनं प्रदर्शितम्। त्रिप्रश्नाधिकारेऽपि नतकाल-लम्बनायन-दशमलग्नादीनि प्रतिपादितानि वर्तन्ते। ग्रहणाधिकारे सूर्यचन्द्रयोः ग्रहणकालविमर्शः प्रदर्शितः। ग्रहयुतिकालः नक्षत्रग्रहयुतिकालः ग्रहाणाम् उदयास्तादिविचारः महापातकालसाधनविचारश्चेत्यादयः सूर्यसिद्धान्ते विशेषरूपेण निगदिताः सन्ति। एवमेव सङ्क्रान्तिज्ञानपुरस्सरं सङ्क्रान्तिपुण्यकालविचारः तत्र प्रदर्शितः। अतः कथयितुं शक्यते मानवजीवनपयोगिनः कालज्ञानस्य विचारः सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टरूपेण निगदितः। सूर्यसिद्धान्तस्य अवलोकेनेन मयासुरस्य कालज्ञानविषये योगदानं स्पष्टरूपेणैव परिलक्ष्यते।

---

1 सू. सि. म. अ.

अथ गृहप्रवेशः

प्रो. हरिहरत्रिवेदी

ॐ तिर्थिविष्णुस्तथा वारो नक्षत्रं विष्णुरेव च।
योगश्च करणं विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्।।

<u>प्रतिज्ञासंकल्पः -</u> ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य तत्सदद्य श्रीब्रह्मणोऽह्नि द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे सप्तमवैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे कलिप्रथमचरणे भूर्लोके जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशे ......प्रदेशे/नगरे/ग्रामे/क्षेत्रे अद्य ....नामसंवत्सरे ....मासे .... पक्षे ....तिथौ........नक्षत्रे ....योगे........ करणे ....वासरे ....राशिस्थिते श्रीसूर्ये...........राशिस्थिते श्रीचन्द्रे ....राशिस्थिते देवगुरौ, शेषेषु ग्रहेषु यथा-यथा स्थानस्थितेषु सत्सु एवं ग्रहगणगुणविशेषेण विशिष्टायां शुभपुण्यतिथौ ....गोत्रः..........राशिः.........शर्माऽहं (वर्माऽहं, गुप्तोऽहं, दासोऽहं वा) ममात्मनः सपत्नीकस्य सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य, श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थं, सर्वारिष्टनिवृत्तिपूर्वकं, धन-धान्य-पुत्र-पौत्रादि-आयुरारोग्य- ऐश्वर्यादिसमृद्ध्यर्थं, सर्वोपद्रवप्रशमनपूर्वकं सर्वविध सुखशान्त्यर्थञ्च, पुत्रपौत्रादिसहितस्य अस्मिन् नूतननिर्मिते गृहे चिरकालसुखेन निवासार्थं, सर्वसङ्कटनानाविधरोगादि-सर्वोपद्रवशान्ति- सम्पदायुरारोग्य-धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद-पुत्र पौत्राद्यभिवृद्धिपूर्वकं, सुवर्ण-रजत-ताम्र-त्रपु-सीस- कांस्य-लौह-पाषाणद्यष्टशल्यमेदिनीदोष -आयव्ययादि-अन्यथा भवने नानाविधहिंसादोषपरिहारद्वारा एतद्गृहक्षेत्र-अवच्छिन्न-भूम्यधि ष्ठित-देवतोपरोधजनित-उपसर्गनिवृत्तिपूर्वकं वास्तोः शुभता सिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं, गृहप्रवेशनिमित्तां सग्रहमखां वास्तुशान्तिं गृहप्रवेशाख्यं कर्म च अहं करिष्ये।। तदङ्त्वेनादौ निर्विघ्नतया कार्यसिद्ध्यर्थं, श्रीगणेशाम्बिकयोः पूजनं, स्वस्तिपुण्याहवाचनं मातृकापूजनं, वसोर्धारापूजनम् आयुष्यमन्त्रजपं साङ्कल्पिकं नान्दीश्राद्धम् आचार्यादीनां ब्राह्मणानां च वरणं करिष्ये।

विशेषः - सति सम्भवे पौराणिकशान्तिकाध्याय-श्रीदुर्गासप्तशती-विष्णुसहस्रनामादिपा. ठकानां, श्रीगणेश-ग्रह-वास्तुप्रभृतिमन्त्रजापकानाञ्च सम्प्रदायागतानां वरणं कुर्यात्।

<u>गृहप्रवेशकाले संकल्पविशेषः -</u> सग्रहमखां वास्तुशान्तिं विधाय, प्रवेशकाले श्रीगणपतिं सम्पूज्यः ब्राह्मणैः कृतस्वस्त्ययनः मंगलतुर्यशान्तिपाठेन सजलकलशः

ब्राह्मण-कन्या-तुलसीपुरःसरं पुत्रपौत्रकलत्रादियुतः सतोरणं सध्वजं सपताकां गृहमागत्य द्वारसमीपे उपविश्य पुण्याहेऽस्मिन् श्रौत-स्मार्तकर्मकरणार्थं संस्कारानेकयोगैश्वर्यादि-विविध मंगलोदयसिद्धये, एतन्नूतनमपूर्वगृहप्रवेशमहं करिष्ये।

तत्रादौ द्वारशाखापूजनम् - द्वारशाखयोः तन्मन्त्रौ -

दक्षिणशाखायाम् - स्थापितेयं मया शाखा शुभदा ऋद्धिदाऽस्तु मे।
सुपूजिता मया शाखा सर्वदा सुस्थिराऽस्तु मे।।1।।
यो धारयति सर्वेशो जगन्ति स्थावराणि च।
धाता दक्षिणशाखायां पूजितो वरदोऽस्तु मे।।2।।
[ॐ धात्रे नमः]

वामशाखायाम् - यः समुत्पाद्य विश्वेशो भुवनानि चतुर्दश।
विधाता वामशाखायां स्थिरो भवतु पूजितः।।1।।
[ॐ विधात्रे नमः]

ऊर्ध्वम् -

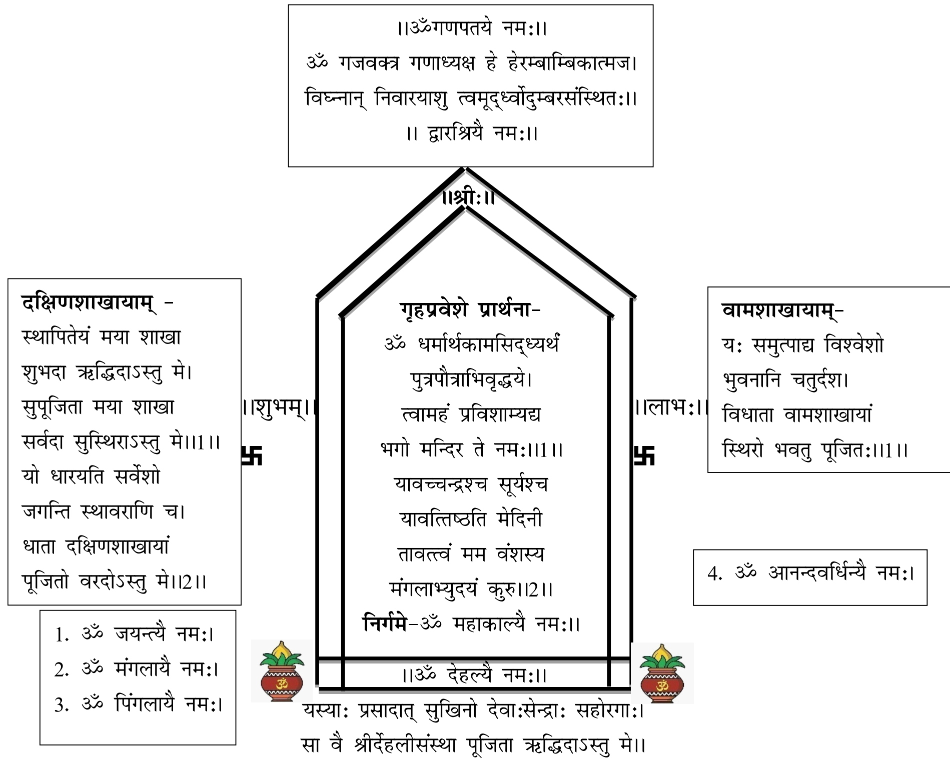
1. ॐ गणपतये नमः।। हरिः ॐ गणानान्त्वा गणपतिꣳहवामहे प्रियाणान्त्वा प्रियपतिꣳहवामहे निधीनान्त्वा निधिपतिꣳहवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम्।।

2. ॐ द्वारश्रियै नमः।। ॐ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इषणन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण।।

अधः- ॐ देहल्यै नमः।। ॐ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री। पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः।।

पार्श्वयोः (द्वारशाखयोः) - ॐ द्वारमातृकाभ्यो नमः -
ॐ जयन्ती मंगला चैव पिंगला चैव दक्षिणे।
आनन्दवर्द्धिनी वामे महाकाली च निर्गमे।।

गृहप्रवेशसमये द्वारपूजनम् -



ततः श्रीगणपत्यादीन् नमस्कृत्य सम्पूज्य च प्रार्थनां कुर्यात्।

<u>१. ऊर्ध्वम् -</u>**।।ॐ गणपतये नमः।। ॐ गजवक्त्र गणाध्यक्ष हे हेरम्बाम्बिकात्मज।**
विघ्नान् निवारयाशु त्वमूद्ध्र्वोदुम्बरसंस्थितः।।
।। ॐ द्वारश्रियै नमः।।

<u>२. अधो देहल्याम् -</u> देहलीं पूजनं कुर्यात्
यस्याः प्रसादात् सुखिनो देवाः सेन्द्राः सहोरगाः।
सा वै श्रीर्देहलीसंस्था पूजिता ऋद्धिदाऽस्तु मे।। ।।ॐ देहल्यै नमः।।
सर्वोपचारार्थे गन्धाक्षतपुष्पाणि समर्पयामि।

<u>३. प्रवेशे काले -</u> (वैदिकब्राह्मणान्, सौभाग्यवतीं, कन्यां, तुलसीं, सवत्सां गां च सम्पूज्य, सम्प्रार्थ्याय च प्रविशेत्।)

<u>अथ द्वाराभिमुखो भूत्वा -</u> **ॐ धर्मार्थकामसिद्ध्यर्थं, पुत्रपौत्रादिवृद्धये।**
त्वामहं प्रविशाम्यद्य, भगो मन्दिर ते नमः।।

यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च, यावत्तिष्ठति मेदिनी।
तावत्त्वं मम वंशस्य, मंगलाभ्युदयं कुरु॥

इत्युक्त्वा सम्प्रार्थ्य प्रविशेत् – **ॐ गृहा मा विभीत।**

ॐ धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके। इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तामहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह॥ यन्मे किंचिदस्त्युपहूतः सर्वगणः साधुसंवृतः। तां त्वा शालेऽरिष्टवीरा गृहान्नः सन्तु सर्वतः।(पारस्करगृह्यसूत्रे 3/4)

इति देहलीमस्पृशन् दक्षिणपादपुरःसरमन्तः प्रविश्य प्रधानगृहमध्ये आग्नेय्यां दिशि वा तं कलशं संस्थाप्य, अस्मिन्नूतननिर्मिते (क्रीते) गृहे- **पुण्याहं, कल्याणं, ऋद्धिं, स्वस्तिं, श्रीरस्तु** - इत्यादिबौधायनोक्तपंचवाक्यात्मकं पुण्याहवाचनं विधाय, श्रीलक्ष्मीं सम्पूजयेत् -

ॐ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इषणन्निषाणामुं मऽ इषाण सर्वलोकं मऽ इषाण॥

गृहस्य धारकं स्तम्भं पूजयेत्- **ॐ धारणार्थं महाभाग निर्मितो विश्वकर्मणा।**
स्थापितः शुभदो नित्यं गृहभारक्षमो भव॥

दीपस्थाने दीपपूजनम् - दीपं प्रज्वाल्य गन्धाक्षतपुष्पैश्च सम्पूज्य - **ॐ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥**

प्रार्थनां कुर्यात् - ॐ तिमिरस्य तिरस्कर्ता ज्योतीरूपः सुविश्रुतः।
विघ्नान्धकारनाशाय पूजयामि सुसिद्धिदम्॥ (ॐ दीपाय नमः।)
भक्त्यादीपं प्रयच्छामि देवाय परमात्मने।
त्राहि मां निरयाद् घोराद् दीपज्योतिर्नमोऽस्तु ते॥

चुल्ह्यां धर्मपूजनम् - **ॐ महानस इति ख्यातो देवयज्ञादिसिद्धिकृत्।**
अन्नादिसाधनं स्थानं धर्ममूलं शुभप्रदम्॥ ॐ चुल्ह्यां धर्माय नमः।

सम्मार्जनस्थानपूजनम् - **ॐ पूतना शुभदा ज्येष्ठा सदा सन्धानसंस्थिता।**
स्थानं चोत्करसम्पत्तेरस्तु मे सर्वसिद्धिदम्॥ ॐ ज्येष्ठायै नमः।

जलस्थाने जल(वरुण)पूजनम्-

ॐ तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो
हविर्भिः। अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳ स मा नऽ आयुः प्रमोषीः॥
ॐ शंखस्फटिकवर्णाभ श्वेतहाराम्बरावृत।
पाशहस्त महाबाहो दयां कुरु दयानिधे॥ ॐ वरुणाय नमः।

पेषण्यां पेषणीपूजनम् (वर्तमानकाले पेषणीस्थाने मिक्सीयन्त्रं प्रपूजयेत्) -

ॐ सौभाग्यं सुभगे देहि पेषणी संस्थिता शुभे।
पिष्टनिष्पादनार्थं त्वं पूजिता शुभदाऽस्तु मे॥ ॐ सुभगायै नमः॥

उलूखलपूजनम् - **ॐ ब्रीहीणां कण्डनं यच्च तुषाणां च विमोचनम्।**
त्वदधीनमतः पूजां करोमि तव सिद्धये॥ॐ रौद्रपीठाय नमः॥

मूसलपूजनम् - **ॐ बलभद्रप्रियाय प्रहरणाय नमः।**
शयनकक्षे शय्यायां शय्यापूजनम्- **ॐ कामः कामप्रदो मेऽस्तु शयनीये सुपूजित।**
पूजां गृहाण सुमुख धानधान्यसमृद्धये॥
ॐ कामाय नमः॥ शय्याधिष्ठातृदेवेभ्यो नमः॥
ॐ देहि सौभाग्यमारोग्यं देहि मे परमं सुखम्।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि॥

गृहमध्ये सर्वदेवपूजनम् -

ॐ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः
शूरऽइषव्योतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री
धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो
युवाऽस्य यजमानस्य व्वीरो जायतान्निकामे निकामे नः पर्जन्यो
व्वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥
ॐ मध्ये सुपूजिता देवाः सन्तु मे सर्वसिद्धिदाः।
नश्यन्तु सर्वविघ्नानि देवानां पूजनादिह॥
ॐ सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः।

पशुस्थाने पशुपतिपूजनम् - **ॐ सर्वाधिपो महादेव ईशानः शुक्लशंकरः।**
पशूनां पतिरस्माकं पूजितः शुभदः सदा॥ ॐ पशुपतये नमः॥

एतदनन्तरं वा पूर्णाहुत्यादि विसर्जनान्तं पूर्वोक्तं कुर्यात्।

।।सर्वं शुभं भूयादिति गृहप्रवेशः।।